UNIVERSAL
LIBRARY
OU_176062
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 80·9/D985 Accession No. G.H. 1051

Author द्विवेदी शान्तिप्रिय

Title सञ्चारिणी 1945

This book should be returned on or before the date last marked below.

सञ्चारिणी

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

तृतीय संस्करण] सन् १९४५ [मूल्य २)

Published by
K. Mittra,
at the Indian Press, Ltd.
Allahabad

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

॥ श्री ॥

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणी

सत्य ही जिनका जीवन था, धर्म्म ही जिनका प्राण था,
सारल्य ही जिनका स्वभाव था, विश्वास ही जिनका सम्बल था,
सुव्यवस्था ही जिनकी चेतना थी, सजलता ही जिनकी आत्मा थी,
स्वच्छता ही जिनकी कला थी, करुणा ही जिनकी कविता थी,
आत्मदृढ़ता ही जिनकी दीप्ति थी, स्फूर्ति थी, वाणी थी,
जिन्होंने मेरे तुतले-वय से मुझे जीवन दिया.
जो मेरे लिए माता-पिता और ईश्वर थीं
भारत की उन्हीं पावन पौराणिक आत्मा
सद्यःस्वर्गीया
पूजनीया

बहिन कल्पवती देवी

के

चरण कमलों में अर्पित

श्री काशी
नवरात्र द्वितीया, सं० १९९६

बहिन के प्यार का अकिंचन भाई
'मुच्छन'

निवेदन

'कवि और काव्य' के बाद की मेरी यह पुस्तक है। रचना-क्रम से यद्यपि इसे पहले ही प्रकाशित हो जाना चाहिए था, तथापि 'सञ्चारिणी' के विचारों के पूर्व-परिचय के रूप में 'साहित्यिकी' ही इससे पहले प्रकाशित हो गई। 'साहित्यिकी' में मेरे कुछ प्रारम्भिक साहित्यिक रचना-काल की, कुछ 'हमारे साहित्य-निर्म्माता' तथा 'कवि और काव्य' के बीच की, कुछ 'सञ्चारिणी' के लेखन-काल की रचनाओं का संग्रह है। एक दृष्टि से वह मेरे अब तक के विभिन्न साहित्यिक प्रयासों की शृंखला है। यदि साहित्यिक निबन्धों के पूर्व से मेरे गद्य-परिचय की आवश्यकता हो तो 'जीवन-यात्रा' भी पाठकों तक पहुँच चुकी है।

'कवि और काव्य' के बाद प्रकाशित होनेवाली 'साहित्यिकी' जहाँ मेरे अब तक के प्रयत्नों और विश्वासों की मेरी स्वीकृति है, वहाँ मेरे भावी मनन-चिन्तन की सांकेतिकी भी। 'साहित्यिकी' में मैंने विविध युगों का सामञ्जस्य लेकर चलने का प्रयत्न किया

है। अब 'सञ्चारिणी' में मेरे प्रयत्न और विश्वास अन्तरोन्मुख ही न रहकर बहिर्मुख भी हो गये हैं।

'सञ्चारिणी' में एकाध मेरी तथा मुद्रण-सम्बन्धी जो भूलें रह गई हों उन्हें सहृदय क्षमा करेंगे।

शरद के नारी-निरूपण में मैं मुख्यत: अपनी बहन के व्यक्तित्व से, अंशत: शरद के एक सहृदय समीक्षक की पंक्तियों से, लाभान्वित हुआ हूँ। आभारी हूँ।

'सञ्चारिणी' के ये निबन्ध प्रकीर्णक नहीं, बल्कि परस्पर क्रमबद्ध हैं, विविध युगों के प्रतीक-स्वरूप। इनमें मैंने साहित्यिक इतिहास को भी अपनी अभिव्यक्ति में स्पर्श किया है।

आज राजनीति की भाँति ही साहित्य में भी अनेक 'वाद' प्रचलित हो रहे हैं। राजनीतिक परिस्थितियों के संघर्ष से जीवन में भी उथल-पुथल हो रहा है, फलत: जीवन का प्रश्न लेकर साहित्य को भी नये दृष्टिकोणों से देखा-समझा जा रहा है। दृष्टिकोणों में उसी प्रकार अनेकता हो सकती है जिस प्रकार तृषार्त्त धरित्री को जीवन देने के लिए विभिन्न स्रोतों में। इस भिन्नता के कारण 'वाद' अनेक हो सकते हैं किन्तु उन्हें 'विवाद' बनाना शुभैषिता नहीं। कोई भी 'वाद' यदि सचमुच अपने अभ्यन्तर में लोक-कल्याण की आकांक्षा रखकर चलना चाहता है, तो वह विवाद नहीं करता; सहयोग करता है और भिन्नताओं में भी एक सामञ्जस्य स्थापित करने को स्नेहातुर रहता है।

'सञ्चारिणी' में मैंने अपनी दृष्टि से एक सामञ्जस्य उपस्थित किया है, साहित्य में मैं ऐसे अन्य प्रयत्नों की भी सदिच्छा करता हूँ।

'सञ्चारिणी' मेरे अत्यन्त संकट-काल में प्रकाशित हो रही है। मेरे लिए यह एक अभूतपूर्व समय है। न केवल मेरा जीवन, बल्कि मेरी रचनाएँ जिनके स्नेह-संरक्षण में पालन-पोषण पाती आई हैं, जो जीवन-यात्रा के दुर्गम पथ पर अपनी ममता का अञ्चल मेरे मस्तक पर रखे हुए सौ-सौ असुविधाओं में भी मुझे सब तरह से अग्रसर किये हुए थीं, मेरी वे पूजनीया बहन गत मार्च में इस संसार से बिदा हो गईं। मेरी रचनाओं में शब्द मेरे रहते थे, आत्मा उनकी। वे स्वयं एक करुण साहित्य थीं, इसी लिए जीवन में मैं आँसुओं को अधिक प्यार कर पाया हूँ। और अब तो अश्रु ही मेरे सर्वस्व रह गये—घोर सन्तापों में मूक, कोमल कणों में सजल।

जीवन-मरण तो सृष्टि का एक अनिवार्य्य क्रम है। किन्तु वह मरण दुःखदायी है, जो समाज द्वारा किये गये व्यतिक्रम से जीवन के न पनप पाने के कारण पछतावा दे जाता है। सब से बड़ी कमी समाज में स्नेह-सहयोग का अभाव है। आज स्थिति यह है—'धनियों के हैं धनी, निर्बलों के ईश्वर।' किन्तु 'दैवो दुर्बल-घातकः'। ऐसे अवसर पर हम भाग्य की इच्छा कह-कर मन को भुला लेते हैं। परमात्मा करे, आज के सामूहिक आन्दोलन अपनी सफलता में इतने शुभ हों कि अकिञ्चनों का

जीवन भी साधन-सम्पन्न हो। तभी मेरी बहन-जैसी आत्माएँ इसी वसुधा को स्वर्ग मानकर यहाँ सुखी होंगी।

'सञ्चारिणी' पाठकों के सामने उपस्थित करते हुए मेरे हृदय में अतल मूक व्यथा है। विधवा बहन की छाया में पले होने के कारण मेरे अंतःसंस्कार बहुत कोमल हैं। ममता के अञ्चल में ही यह कोमलता खिलती रही है। आज की दुर्द्धर्ष परिस्थितियों में इतना कोमल जीवन आगे कहाँ तक पनप सकेगा, मैं नहीं जानता।

लोलार्क कुंड, काशी, }
१७-४-३९ } शान्तिप्रिय द्विवेदी

क्रम

विषय	पृष्ठ
१ भक्तिकाल की अन्तर्चेतना	१
२ व्रजभाषा के अंतिम प्रतिनिधि	२९
३ शरत्साहित्य का औपन्यासिक स्तर... ...	५७
४ कला में जीवन की अभिव्यक्ति	८४
५ कलाजगत् और वस्तुजगत्	१००
६ भारतेन्दु-युग के बाद हिन्दी-कविता ...	११४
७ नवीन मानव-साहित्य	१४७
८ छायावाद का उत्कर्ष	१७७
९ हिन्दी गीतिकाव्य	२२३
१० कवि का आत्मजगत्	२४१
११ प्रकृति का काव्यमय व्यक्तित्व	२५०

सञ्चारिणी

भक्ति-काल की अन्तर्चेतना

[१]

हमारा वैष्णव काव्य-साहित्य न दुःखान्त है, न सुखान्त; वह तो प्रशान्त है। रामायण को लीजिये। रोमान्स और ट्रेजडी के बाद क्या है? सीता का वनवास और राम का राज्याभिषेक; मानो विषाद और हर्ष, अन्धकार और प्रकाश की उषःशान्ति। कृष्ण चरित्र में भी इसी ब्राह्ममुहूर्त्त की झलक है। सौ सौ विरह-क्रन्दन उठा कर द्वारिकाधीश ने विश्व-जीवन के समुद्र-तट पर लोक-धर्म्म का जयनाद किया। हृदय के भीतर बहते हुए अपने ही अश्रुओं के प्रति कठोर होकर उस कोमल-कलित वृन्दावन-विहारी ने प्रणय के फाग को विश्व-वेदना की होली में धधका कर महाशान्ति दे दी।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास,—इन चार आश्रमों की योजना ही हमारे जीवन की अन्तिम झाँकी को परम शान्ति में दिखलाती है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य्य में संयम की कठोरता से हमारे जीवन का प्रारम्भ होता है, और अन्तिम आश्रम संन्यास की कोमलता में उसका अन्त होता है। ब्रह्मचर्य्य की प्राभातिक उज्ज्वलता संन्यास के सान्ध्यकाषाय में गोधूलि का अञ्चल हो जाती है, मानो हम अपने जीवन की चित्रकला (कविता) को एक सादी कला से प्रारम्भ करते हैं, बीच में वासन्ती और इन्द्रधनुषी छटा उठाकर, अन्त में एक गम्भीर शान्त वर्ण (गोधूलि) में समाप्त कर देते हैं।

ब्रह्मचर्य से संन्यास तक के मध्य में रोमान्स और ट्रेजडी है, किन्तु ये हमारे जीवन-काव्य के गौण परिच्छेद हैं; आदि (ब्रह्मचर्य्य संयम) और अन्त (संन्यास-शान्ति) ही प्रधान हैं। कारण, हमारी संस्कृति ने सम्पूर्ण अनुरागों (मनोरागों) के ऊपर विराग को ही प्रधानता दी है। जो हमारा गौण है, वह दूसरे साहित्यों का प्रधान है, इसी लिए आधुनिक साहित्य में हम रोमान्स और ट्रेजडी अथवा सुखान्त और दुःखान्त की ओर ही झुकाव पाते हैं। सुखान्त या दुःखान्त, जहाँ का साहित्यिक दृष्टि-कोण है वहाँ की संस्कृति ऐहिक है। हमारी संस्कृति अतीन्द्रिय है। हमारा देश इन दिनों ऐहिक संस्कृति के सम्पर्क में भी है, अतएव, हमारे आधुनिक साहित्य की सृष्टि में वह दृष्टि भी अगोचर नहीं।

अपने प्राचीन साहित्य में हम यह भी देखते हैं कि अन्त में ट्रेजडी का सम्पूर्ण भार गृहिणियों के मस्तक पर ही करुणा का ताज बनकर शोभित होता है, वनवास में सीता और कृष्ण-विरह में गोपिकाएँ करुणा की ऐसी ही सम्राज्ञियाँ हैं। पुरुष ने ट्रेजडी का भार अपने मस्तक पर नहीं लिया, यह क्यों? पुरुष यदि यह भार लेता तो यह उसका अनधिकार होता। इतना बड़ा भार लेकर वह इस पृथ्वी पर शेष नहीं रह जाता। पृथ्वी की भाँति हमारी गृह-देवियाँ ही सर्वसहा हैं, इसी लिए वे पृथ्वी की कन्याएँ हैं; सीता की भूमि-विलीनता इसी संकेत का रूपक है। माताओं ने जिस संसार को जन्म दिया है, उसकी रक्षा के लिए, प्रजा-वत्सलता के लिए, वे वीरबाहुओं को जीवित-सुरक्षित देखना चाहती हैं। वे मरणान्तक वेदना स्वयं लेकर अपनी स्मृति की संजीवनी से पुरुष को जीवित रहने के लिए छोड़ जाती हैं। वे मानो विधाता की एक विदग्धतम कृति के रूप में सूखी पृथ्वी पर अश्रु-सिन्धु बहाकर चली जाती हैं और पुरुष मानो एक कवि के रूप में उनका स्मरण-कीर्त्तन करता रहता है। नारी, पुरुष के जीवन में जो करुणा-घन छहरा जाती है, उसी के कारण पुरुष शान्ति का प्रतिनिधि बन पाता है। करुणा ही मनुष्यता है। मनुष्यता के महासिन्धु में पुरुष अपनी जीवन-नौका खेता है; मधु और कैटभ-जैसे जो असुर, मानवता के सिन्धु को कलुषित करते हैं, वह उनका संहार करता जाता है।

जीवन की ट्रेजडी नारी के बजाय पुरुष के कन्धों पर पड़ती तो हमारे आश्रमों की व्यवस्था ही बदल जाती। तब शायद एक ही आश्रम रह जाता गृहस्थ। काव्य में एक ही रस रह जाता—शृङ्गार। उस स्थिति में राम-चरित्र और कृष्ण-चरित्र का कथानक ही कुछ और हो जाता।

[२]

हम पौराणिक भारतीयों की वैष्णव संस्कृति कलात्मक है, जिसका परिचय हमें अपने चित्रों, मूर्तियों और दशावतार की झाँकियों से मिलता है। यह सम्पूर्ण कलासृष्टि आध्यात्मिक संस्कृति के प्रकाशन के लिए है। वर्णमाला का बोध कराने के लिए जिस प्रकार शिशु-हाथों में सचित्र पोथियाँ दी जाती हैं, उसी प्रकार जनता को अदृश्य आत्मानन्द का ज्ञान कराने के लिए हमारे समाज और साहित्य में सगुण आराधना अर्थात् भक्ति-मय चित्र-काव्य उपस्थित किया गया है। इस प्रकार सत्य ने सौन्दर्य्य धारण किया है, अदृश्य ने दृष्टान्त पाया है। वे सगुण झाँकियाँ आज के लैन्टर्न-लेक्चरों (व्याख्यान-चित्रों) से अधिक सजीव और मानवी हैं। वे अवैज्ञानिक नहीं, मनोवैज्ञानिक हैं; जनता की रसवृत्ति से काव्य द्वारा सहयोग करती हैं।

हम सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् के चिरउपासक हैं, इसलिए कि हम केवल लौकिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक संस्कृति के पूजक

हैं। लौकिक जीवन को हमने आध्यात्मिक संस्कृति द्वारा लोकोत्तर बनाया है। पश्चिमीय सभ्यता लौकिक है, अतएव वह कला के, जीवन के, ऊपरी ढाँचे (आकार) को ही देखती है, वहाँ इसी अर्थ में कला 'कला के लिए' है। किन्तु हम सुन्दरम् के स्थूल ढाँचे में सूक्ष्म चेतना को देखते हैं, इसी लिए सुन्दरम् से पहिले सत्यम्-शिवम् कह कर मानो भाष्य कर देते हैं। इस प्रकार हम उस चेतना को ग्रहण करते हैं जिसके द्वारा सौन्दर्य्य साधार एवं अस्तित्वमय है।

हम अपनी संस्कृति में एक कवि हैं, पश्चिम अपनी सभ्यता में एक वैज्ञानिक। स्थूलता (पार्थिवता) के ही रहस्यों में निमग्न रहने के कारण वह निष्प्राण शरीर को भी अपनी वैज्ञानिक प्रयोग-शाला में रखने को तैयार है, जब कि हम उसे निस्सार मान कर महाश्मशान को सिपुर्द कर देते हैं। जो हमारा त्याज्य है, वह पश्चिम का ग्राह्य है; इसी लिए वह उसे कब्रों और म्यूजियमों में सँजोये हुए है। हमारा जो ग्राह्य है, उसे हम सँजोते हैं काव्य में, संगीत में, चित्र में, मूर्त्ति में,—व्यक्ति की स्मृति को अर्थात् उसकी अदृश्य चेतना को। हमारे ये चित्र, हमारी ये मूर्त्तियाँ, जड़ता की प्रतिनिधि नहीं; जब हमने शरीर को ही सत्य नहीं माना तब मूर्त्ति को क्या मानेंगे! हम मूर्त्ति को ही सम्पूर्ण ईश्वर नहीं मानते। जब कोई मूर्त्ति खण्डित कर दी जाती है तब हम यह नहीं समझते कि ईश्वर का नाश हो गया, बल्कि

उसके बदले दूसरी मूर्त्ति स्थापित कर देते हैं। हम तो जड़-प्रतीक इसलिए रखते हैं कि हमें यह सांकेतिक सूचना मिलती रहे कि सत्य (चेतना) के न रहने पर जीवन इन प्रतीकों की भाँति ही जड़ हो जाता है। इन प्रतीकों के माध्यम से हम उसी सत्य का, उसी चेतना का आह्वान करते हैं।

हम व्यक्ति को नहीं, बल्कि व्यक्ति के भीतर बहते हुए रस को महत्त्व देते आये हैं; इसी लिए हमारे यहाँ एक-एक पौराणिक व्यक्ति एक-एक रस के आलम्बन स्वरूप ग्रहण किये गये हैं। दुर्भिक्ष-पीड़ित सुदामा करुणा के प्रतिनिधि, राधाकृष्ण प्रीति के प्रतिनिधि, सीताराम भक्ति के प्रतिनिधि हैं। इन तथा अन्यान्य रूपों में हमने व्यक्तियों का चित्र नहीं बनाया, बल्कि व्यक्तियों के अन्यतम प्रतिनिधियों का रस-चित्र बनाया है। इन चित्रों के साथ एक-एक आख्यान जुड़े हुए हैं, मानो प्रत्येक चित्र एक-एक मूक खण्डकाव्य हो।

हमारे काव्य में जो आलम्बन मात्र है, विज्ञान के लिए वह आलम्बन ही सम्पूर्ण लक्ष्य है। विज्ञान अपने अनुसन्धानों से प्राणिशास्त्र को जानता है, जब कि हम रसों के भीतर से हृदय का अनुसन्धान करते आये हैं। हम विज्ञान को अपने लौकिक अस्तित्व के लिए ग्रहण करते हैं, ज्ञान को आत्मबोध के लिए, रस को आत्मीयता के लिए। इन सभी आदानों में भारत का दृष्टिकोण कला का सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् ही है।

[३]

मध्यकाल की हिन्दी कविता, जिसमें राधाकृष्ण और सीताराम की झाँकियाँ हैं, वह गृहस्थों के नश्वर जीवन में अविनश्वर का साहचर्य्य है; सृष्टि के लिए मानो अपने कलाधर का संरक्षण है। हम मिट्टी की जीवित प्रतिमाएँ अपने प्रतिमाकार को अपने ही जैसे रूप-रङ्गों में प्रत्यक्ष कर अपनी अगणित चेतनाओं को उसमें पुञ्जीभूत कर, उसके महान् अस्तित्व से जीवन यात्रा के लिए शक्ति और स्फूर्ति ग्रहण करती हैं। जिसमें इतनी चेतनाओं का सम्मिलन है, जिसमें सौ-सौ सजीव विश्वासों का केन्द्रीकरण है, वह प्रभु निरा निर्जीव कल्पना मात्र कैसे कहा जा सकता है! अगणित कलकण्ठों से चैतन्य होकर जब शून्य आकाश भी सजीव प्रतिध्वनि देता है, तब वह निर्गुण अपनी अगणित आत्माओं से शोभा-समाविष्ट होकर क्यों न सगुण हो जायगा? हम तार्किक नहीं, विश्वासी हैं। आध्यात्मिक और दार्शनिक अनुभव हमारे धार्म्मिक विश्वासों के मूल आधार हैं। हम सत्य को कुरेद-कुरेदकर नहीं देखते। कुरेद-कुरेदकर देखने पर, सत्य को क्षत-विक्षत कर देने पर, तार्किक जिसे अन्त में कुरूप बनाकर पायेंगे, उसे हम रूपवान् बने रहने देने के लिए विश्वासपूर्वक ही अपने हृदय-मन्दिर में आराध लेते हैं।

धार्म्मिक विश्वासों का क्षेत्र वह है जिसमें बुद्धि और तर्क प्रवेश करने का प्रयत्न तो करते हैं, किन्तु जितना ही प्रयत्न करते

हैं, उतना ही असफल रहते हैं। इससे धार्मिक विश्वासों की निराधारता नहीं, बल्कि बुद्धि और तर्क की ही अक्षमता सिद्ध होती है। ईश्वर के अस्तित्व का एकमात्र निश्चित प्रमाण हमारी चेतना में ही विद्यमान है। हमारे अस्तित्व का मूल तत्त्व, हमारे अन्तरतम की रहस्यपूर्ण निधि जो अपने को 'हम' कहती है, वह ईश्वर की ही साँस है। वही पूर्ण पुरुष अपने को मनुष्य में अवतरित करता है।

यह तो विज्ञान और वैज्ञानिक तरीकों के बिलकुल विपरीत होगा कि हम उन सभी बातों को ठीक न मानकर अस्वीकृत कर दें जिनकी हम टेस्ट ट्यूब में एसिड की सहायता से जाँच न कर सकते हों। अपनी सूक्ष्मतम उन्नतियों के बाद विज्ञान भी वहीं पहुँचेगा जहाँ धार्म्मिक विश्वास पहुँच चुके हैं। इस प्रकार विज्ञान अध्यात्म के लिए एक आनुसान्धानिक कोष बन जायगा। आज भी स्वर्गीय बोस ने पौधों और वृक्षों में चेतना का जो अन्वेषण कर दिया है उससे सृष्टि की एकात्मता का आध्यात्मिक सत्य सिद्ध होता है। वैज्ञानिक आइन्स्टीन भी अपनी कल्पना में एक ईश्वर का अस्तित्व पाता है।

हाँ, विश्वबोध द्वारा जो ईश्वर-दर्शन होता है वह जीवन को कल्याणमय बनाता है, किन्तु जो केवल लकीर पीटने के लिए ही ईश्वरवादी हैं उनके द्वारा समाज में ढोंग और पापाचार फैलता है। समाजवादी इसी विडम्बना को देखकर ईश्वर-विमुख हो गये।

जो विडम्बनापूर्ण हैं वे तो नश्वर हैं, वे अविनश्वर को क्या जानें! अविनश्वर को जानना सहज नहीं, इसी लिए नश्वर और अविनश्वर के बीच ईश्वर की प्रतिष्ठापना की गई, अर्थात् विश्व के सौन्दर्य्य और ऐश्वर्य्य के बीच एक श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित किया गया। मनुष्य न तो नश्वर हो जाय और न अविनश्वर, बल्कि भोगयोग के सन्तुलन से प्राप्त जीवन का रस ग्रहण करे; इसी हेतु ईश्वरवाद है।

सृष्टि का वह एक आदिम युग था, जब प्राणिमात्र गहनतम अन्धकार में था। दूर अलक्ष्य की बात तो दूर, हम स्वयं अपने लिए ही एक विस्मय थे, हमें अपनी ही प्रत्यक्षता पर संशय था। उस विस्मय और संशय के वायुमण्डल में हमने तर्क के तीर चलाये। तर्काघात से पीड़ित होकर हम आत्मोपचार के लिए सहयोग की खोज में निकले। इच्छा हुई, कोई हमें सहला दे, कोई हमारे आँसुओं को समझे। इन्हीं कोमल आकांक्षाओं ने समाज बनाया। सामाजिक रूप में ही भारत ने इस सत्य को जाना—'एकोऽहं बहु स्याम।' हमने अपनी प्रत्यक्षता पर विश्वास करके ही जाना कि जैसे हम अनेक हैं, वैसे ही हमसे परे कोई एक भी है। यह विश्वास ही हमारा स्वभाव बन गया, हमारा स्वभाव ही काव्य बन गया।

जहाँ तर्क है, वहाँ संशय और अविश्वास है। आज जो कुछ विश्वासरूप में शेष रह गया है, वह अनेक तर्कों और

अनेक संशयों के लोक-मन्थन से प्राप्त कौस्तुभ मणि है। वह हमें फूलों और नक्षत्रों की भाँति सुलभ हुआ है, वह हमारे रूखे-सूखे जीवन को नन्दन-वन बनाने के लिए है।

मनुष्य ने अपने निरन्तर के विकास से जो जीवनाधार पाया, वह तर्क नहीं, भाव है। तर्क जड़युग की वस्तु है, भाव विकसित मानव-युग का सत्य। भाव के क्षेत्र में यदि तर्क अपने को आधुनिक युग का विचारक सिद्ध करे तो यह उसका अनधिकार और अत्याचार होगा, अन्धकार का प्रकाश पर आक्रमण होगा। संसार में जहाँ जो कुछ भी भाव है, काव्य है, विश्वास है, वहाँ तर्क की गुञ्जाइश नहीं। उसका स्थान विज्ञान में हो सकता है, जहाँ एक अन्धकार को पार करते-न-करते दूसरा अन्धकार घटाटोप-समस्या बनकर अमावस्या के अन्ध आकाश की भाँति अछोर फैला रहता है। आर्य्य भारत ने अपना स्वभाव, अपना विश्वास विज्ञान की समस्त सीमाओं को पार कर ज्वलन्त किया है। भारत तार्किक नहीं, चिरजिज्ञासु है। विज्ञान की तर्क-दृष्टि आकाश के कुहू-अन्धकार पर पड़ी, भारत के जिज्ञासु-नेत्रों ने कहा—अन्धकार तो है, माया की सघन-छाया तो है, किन्तु इन उडुगणों में किसके अन्तर्लोचन जगमगा रहे हैं?

न जाने नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन?

इस माया में कौन चेतन जाग रहा है ? भारत की जिज्ञासा चिर-सजगता की ओर बढ़ी, उसने अमावस्या के कुहू के बाद शरद का पूनो देखा, मानो अपने हँसते हुए सच्चिदानन्द के स्वर्ग को देखा ! उसने विज्ञान से ऊपर उठकर उसी स्वर्ग में गृहस्थ होकर विहार किया। उसने विहार किया, विलास नहीं; वह जगा रहा, सोया नहीं। जब जब उसने अलसा कर सोना चाहा, तब तब उसके कवियों ने उसे जगाया। भारत ने आत्मजागृति प्राची के उस स्वर्णप्रभात से पाई थी जिसे हम अपनी सभ्यता के इतिहास में सतयुग कहते हैं। सम्पूर्ण तर्कों और अविश्वासों को पार कर उसी स्वर्णप्रभात में भारत ने जन्म-जन्म का तत्त्व पा लिया था, उसी ब्राह्ममुहूर्त में उसने जीवन को जान लिया था, और ज्ञान के सर्वोच्च शिखर से यह शुभ कामना की थी—'तमसो मा ज्योतिर्गमय।'

[४]

आर्य्य भारत अपने ज्योतिर्म्मय से आलोकित इहलोक में जीवन का खेल खेलता है। कृष्ण ने आँखमिचौनी खेल कर बतला दिया है कि देखो, खिलाड़ी ऐसे खेलते हैं—प्रेम में वे मोहासक्त हैं, कर्त्तव्य में निर्मोही हैं। वे निर्म्मम-ममतालु हैं, वे प्रेम-जोगी हैं। भारत इसी आदर्श के चरणों में अपने समस्त जीवन का पादार्घ्य देकर, 'कृष्णार्पणमस्तु' कह कर, विश्वक्रीड़ा

करता है। हम आर्य्यगृहस्थ मानो यह कहते हैं—भगवन्, तुमने न जाने हमारे किस भाव से रीझकर यह क्रीड़ामय जीवन पुरस्कृत किया है। लो हम खेलते हैं, लेकिन अपनी इस लौकिक क्रीड़ा पर हम दम्भ नहीं करेंगे, जब हमारे खेल का समय हो जायगा तब हम तुम्हारे ही उन चरणों में लौट आवेंगे जिनकी स्मृति हमारे प्रत्येक क्रिया-कलाप के साथ है—

त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

उन्हीं श्रीचरणों में हम अपना अन्तिम जीवन समर्पित करते हुए कहेंगे—लो भगवन्, अब तो खेल समाप्त हुआ, लो अपनी थाती सँभालो—त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये। गोविन्द, तुम्हारी वस्तु तुम्हीं को!

गोविन्द की यह पूजा वही कर सकता है जो चेतन को मानता है, न कि चेतन के पार्थिव नीड़ (शरीर) को। शरीर तो हमारी अनन्त यात्रा का एक जङ्गम-निवास है, इसके प्रति विछोह का भाव रखने से हमारे जीवन में एक दार्शनिक जागरूकता बनी रहती है। शरीर के प्रति विछोह बनाये रखने में भी हमारी संस्कृति हमें सहायता देती है। आर्य भारत पुनर्जन्म का विश्वासी है, इसी लिए वह अनन्त की ओर अग्रसर होने में जन्म-जन्म का आशावादी है। प्राणी जब तक वीतराग नहीं हो जाता तब तक वह जीवन को प्यार करता

है। उसका आशावाद उसकी जीवनी शक्ति के कारण है। जिस लौकिक जीवन में उसने एक बार रस पाया उस रस को वह मचले हुए बालक की तरह बार-बार प्रभु से चाहता है। उसके इस रस-लोभ से ही उसका पुनर्जन्म होता है। प्रभु ने सदय होकर उसे पुनर्जन्म का वरदान दिया है, मानो उसका यह स्वस्तिवचन है—ले भाई, जब तेरा जी भर जाय तभी जीवन्मुक्ति माँगना। अन्त में लौकिक रास-रङ्ग से ऊब जाने पर जीव ब्रह्म से बिलख पड़ता है—

अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल !

इस क्रन्दन को सुनकर वह करुणानिधि केशव, जीव को जीवन्मुक्त कर देता है। इस प्रकार हमने जीवन को योरप की भाँति एक संग्राम नहीं, क्रीड़ा माना है। इसी कारण हमारे जीवन में मनोरमता और कविता है।

हमारे प्रभु की झाँकी अर्द्धनारीश्वर की झाँकी है, पुरुष और प्रकृति के संयुक्त व्यक्तित्व से पूर्ण होकर वह अपनी लोक-लीला का विस्तार करता है। अपनी दाम्पत्यिक इकाई से हम प्रभु की ही लीला का प्रसार करते हैं, इसी लिए हम वैष्णव हैं। वैष्णव भारत अपनी गृहस्थी में एक ओर तो प्रेमी है, दूसरी ओर सेवक। प्रेमी के रूप में हम पारिवारिक प्राणी हैं, अतिथि-सेवी के रूप में लोक-संग्रही। कृष्ण-काव्य और राम-काव्य ने

हमारे इसी द्विविध जीवन को व्यक्त किया है। कृष्ण-काव्य ने हमें दाम्पत्य प्रेम दिया है, रामकाव्य ने विश्वप्रेम।

अन्ततः गार्हस्थिक जीवन ही हमारा सर्वस्व नहीं है, हमारा सर्वस्व है विश्वजीवन। गार्हस्थिक सरिताओं के रूप में हम उसी विश्वजीवन के समुद्र की ओर अग्रसर होते रहते हैं। सामाजिक असामञ्जस्य से जब संसार का एक प्राणी रास-रङ्ग करता है और दूसरा आठ-आठ आँसू रोता है, तब हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हमने गार्हस्थिक जीवन में जो सुख-दुख पाया है उसकी अनुभूति से दूसरों के सुख-दुख को भी समझें, दूसरों के सुख-दुख में हाथ बँटावें। गीता के अनुसार—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

हम अपने ही रास-रङ्ग में संकीर्ण और अनुदार न हो जायँ; यहीं लोकसंग्रह का पथ है। जो अपनी ही स्वार्थ-पूजा में व्यस्त है, वह वैष्णव नहीं। वैष्णव अपने सच्चिदानन्द के आनन्द को प्रभु के प्रसाद की तरह बाँटकर ग्रहण करता है। वह लोभी नहीं, संवेदनशील होता है; वह पशु नहीं, मनुष्य बनता है। जो मनुष्य है, वही वैष्णव है—

वैष्णव जन तो तेने कहिये
जो पीर पराई जाणे रे,

परदुःखे उपकार करे
तोए मन अभिमान न आणे रे !

निर्गुण कबीर ने, जिसने समस्त लोकलीला को मिथ्या कहा है, उसने भी जीवन में संवेदना को ही लौकिक तत्त्वों में सर्वोत्तम तत्त्व माना है—

मुखड़ा का देखत दरपन में
तोरे दया-धरम नहिं मन में

इस प्रकार उसने रूप रङ्ग को छोड़ देने पर भी वैष्णव जीवन के सार को ग्रहण किया।

जहाँ शोषक और शोषित के प्रसंग में मनुष्यता के लिए हृदय जगता है, हृदय का वह जागरण ही एक धर्म्म है। उस धर्म्म का रसोद्रेक करुण काव्य है। किसी मज़हब को न मानते हुए भी हम सहानुभूति की भूमि (हृदय) में धार्म्मिक (समष्टि-वादी) रह सकते हैं। आज हमारी वह भूमि खो गई है, हमें उसे पाना है—साहित्य और समाज की नवचैतन्य अभि-व्यक्तियों द्वारा।

हमारे काव्य-साहित्य में सच्चिदानन्द का करुणा-मय स्वरूप ही लोक-संग्रह का परमात्म रूप है। जब कोई सम्प्रदाय अपने प्रभु के करुणामुख दुखियों को सुखी कर उनमें अपने सच्चिदानन्द की झाँकी नहीं उतारता, तब सच्चे वैष्णव मानवता की पुकार सुनाते हैं। इस युग के सर्वश्रेष्ठ वैष्णव बापू वही पुकार सुना रहे हैं।

[५]

वैष्णवकाव्य रहस्यवादमय है। रहस्यवाद दो प्रकार का है—एक पार्थिव, दूसरा अपार्थिव। सगुणोपासक कवि पार्थिव रहस्यवादी हैं, दूसरे शब्दों में इन्हें हम छायावादी कह सकते हैं, जो कि सृष्टि के कण-कण, तृण-तृण को इसलिए प्यार करते हैं कि उनमें उन्हें अन्तर्चेतन की अनुरागिनी छाया मिलती है। ये जीवन के एक मिस्टिक रियलिज़्म (रहस्यवादी यथार्थ-वाद) के कवि हैं।

सगुण-काव्य में पार्थिव भावों के अवगुण्ठन से अपार्थिव सत्य का सौन्दर्य जगमगा रहा है। इस अवगुण्ठित आध्या-त्मिकता के कारण हमारे जीवन की भाँति ही सगुण काव्य में भी एक कलाछवि आ गई है। गृहस्थों तक पहुँचने के लिए उन्हीं के बानक में सगुण-काव्य का कला-स्वरूप मिला है। 'खग जाने खग ही की भाखा' के अनुसार वे उस काव्य को ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु अपार्थिव रहस्यवाद भावुक गृहस्थ की चीज़ नहीं, वह ज्ञानियों की चीज़ है। वह गृहस्थों के कवि की नहीं, सन्तों की बानी है। सन्तों ने अपनी बानी में कला के रूप-रङ्ग को नहीं ग्रहण किया, वे केवल सत्य या सत्त को ग्रहण कर सन्त हो गये। इस प्रकार आध्यात्मिक चेतना के प्रकाशन के लिए हमारे भक्ति-काव्य में एक ओर निर्गुण मिस्टि-सिज़्म है, दूसरी ओर सगुण-मिस्टिसिज़्म। सगुण-रहस्यवाद

(छायावाद) में प्रेम और भक्ति है, निर्गुण-रहस्यवाद में केवल भगवद्भक्ति। एक में लौकिकता और अलौकिकता दोनों हैं, दूसरे में केवल अलौकिकता।

तुलसीदास का छायावाद तथा निर्गुण सन्तों का रहस्यवाद कृष्ण-काव्य की प्रतिक्रिया-सा है। लौकिक तृष्णाओं के लिए ही जब कृष्ण-काव्य का दुरुपयोग होने लगा तथा गृहस्थों ने माधुर्य्य भाव को ही प्रधानता देकर लोक धर्म्म को बहा दिया, तब उन्हें चैतन्य करने के लिए तुलसी ने राम-काव्य द्वारा प्रभु के लोकसंग्रही स्वरूप का दर्शन कराया। उन्होंने गार्हस्थिक जीवन की कदर्थना देखकर गार्हस्थिक जीवन की उपेक्षा नहीं की, बल्कि लोकसेवी और त्याग-परायण गृहस्थ के रूप में सीताराम को उपस्थित कर हमारे लौकिक जीवन का संशोधन किया। किन्तु निर्गुण सन्तों ने गृहस्थ जीवन की कदर्थना में माया का अविचार ही अविचार देखा। उन्होंने उसके संशोधन का नहीं, बल्कि मूलोच्छेदन का ही उपाय किया। गृहस्थों ने उनके साहित्य को उतना नहीं अपनाया, जितना तुलसी की रामायण को। सन्तों में कबीर और नानक इत्यादि ने गृहस्थों की भी प्रीति प्राप्त करने का प्रयत्न किया और गृहस्थों के दाम्पत्य भाव में माया और जीव का रूपक बाँधकर उन्हें मायातीत होने का सन्देश दिया। किन्तु वे जितने वैदान्तिक थे, उतने मनोवैज्ञानिक नहीं। सूर ने 'भ्रमर-गीत' में गृहस्थों के मनोवैज्ञानिक घात-

प्रतिघात दिखलाकर उनकी सौन्दर्य-लालसा को ऊधो के तर्कवाद पर विजयी बना दिया था। ठीक ऊधो की भाँति निर्गुण भी उदासी हो गये थे। किन्तु तुलसी ने गोपियों की विजय स्वीकार की। उन्होंने राधाकृष्ण को सीताराम के रूप में अपनाया। राधाकृष्ण के रूप में ही क्यों नहीं? कृष्ण-काव्य का दुरुपयोग वे देख चुके थे। तुलसी और निर्गुणों का लक्ष्य एक ही था अर्थात् जीवन में परमचेतन की अनुभूति, आत्मा द्वारा एकमात्र परमात्मा की प्रीति। किन्तु कृष्ण-काव्य के दुरुपयोग के साथ ही तुलसी निर्गुणों की वैदान्तिक विफलता भी देख चुके थे, अतएव कृष्ण-काव्य की भाँति उन्हें भी मनोवैज्ञानिकता द्वारा ही अपने निर्गुण लक्ष्य को सगुण रूप देना पड़ा, यद्यपि उनका उद्देश्य कृष्ण-काव्य से भिन्न था। कृष्ण की त्रिभङ्गी झाँकी गार्हस्थिक जीवन की मनोहरता के लिए उन्हें प्रीतिकर तो थी—

कहा कहूँ छवि आज की भले बने हो नाथ!

किन्तु—

तुलसी मस्तक तब नवै धनुष-बान लेहु हाथ॥

देश-काल के जिस वातावरण में लोक-संग्रह का आदर्श वे उपस्थित करना चाहते थे, उसके लिए उनके प्रभु को धनुष-बान हाथ में लेना आवश्यक था। कृष्ण-काव्य की अपेक्षा राम-काव्य में तुलसी ने जिस विशाल क्षेत्र को अपनाया, उसी के अनुरूप

उस काव्य के लिए विशद मनोवैज्ञानिकता और प्रशस्त कलात्मकता की उन्हें रससिद्धि करनी पड़ी। मनोवैज्ञानिकता ने उनके काव्य को विश्वस्त बनाया, कलात्मकता ने उनके काव्य को मनोरमतापूर्वक मर्म्मस्थ किया।

[६]

जैसा कि निवेदन किया है, तुलसी और निर्गुणों का लक्ष्य एक था, किन्तु तुलसी का कर्म्म-मय होकर, निर्गुणों का ज्ञान-मय होकर। कृष्ण-काव्य के भीतर जो अद्वैतवादी वैष्णव थे, यथा नन्ददास इत्यादि, उन्होंने भी अपने निर्गुण-प्रसङ्ग में गीता के कर्म्मयोग का सङ्केत किया था। हाँ तो, तुलसी कर्म्मयोग के कवि थे, निर्गुण ज्ञानयोग के सन्त। ज्ञानयोग के प्रति राम-काव्य की उपेक्षा नहीं थी, माधुर्यभाव प्रधान कृष्ण-काव्य की थी। तुलसी के हृदय में उन ज्ञानयोगियों के लिए सम्मान था, जिन्होंने बिना लौकिक माया में फँसे ही परमतत्त्व पा लिया था। इसी लिए उन्होंने अपने प्रभु के मुख से कहलाया है—

'ज्ञानी मोहिं विशेष पियारा।'

किन्तु वे उस परमतत्त्व को ज्ञानियों तक ही सीमित न रखकर, सांसारिकों तक पहुँचाना चाहते थे। वे महाकवि थे, उनकी कला-रुचि ने जीवन को केवल एक जीवित-श्मशान के रूप में ही देखना नहीं पसन्द किया। महाश्मशान (महानिर्गुण)

जीवन के जिन अनेक परिच्छेदों का अन्तिम परिच्छेद है, तुलसी के नाटकीय और औपन्यासिक कलाकार ने उन पूर्व परिच्छेदों को भी ललककर देखा। उन्होंने जीवन को अयोध्या के राज-प्रासाद में, जनकपुर की फुलवारी में, चित्रकूट की वनस्थली में, केवट की नाव में, शवरी के जूठे बेर में, लङ्का के महायुद्ध में देखा। इन परिच्छेदों के अस्तित्व पर ही अन्तिम परिच्छेद (श्मशान) का सूक्ष्म सत्य या सत्त अवलम्बित है। वह सार इसी संसार का नवनीत है, वह रस यहीं के शूल-फूलों का निचोड़ है। यदि कर्म्म-फल नहीं तो प्रेम का फूल कहाँ, यदि फूल नहीं तो अभ्यन्तर का रस कहाँ! अतएव रस के लिए सम्पूर्ण लौकिक उपादानों का सञ्चयन भी आवश्यक है, जनक की तरह विदेह होकर, जिन्होंने आत्मा के रस को—

'भोग-योग-महँ राखहिं गोई'।

यह उसी के लिए सम्भव है जो ज्ञानी और कर्म्मयोगी दोनों ही हो। तुलसीदास ने अपने रामकाव्य में ज्ञानयोग को ही कर्म्मयोग में मूर्त्त किया था। ज्ञान के आधार के लिए उन्होंने कर्म्म को लौकिक स्वरूप दिया था—

कर्म्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करै सो तस फल चाखा॥

साथ ही वे ईश्वरवादी भी थे, इसी लिए उन्होंने यह भी कहा—

को करि तर्क बढ़ावहिं शाखा।
होइहै वही जो राम रचि राखा॥

मनुष्य विश्वासपूर्वक, तर्क-रहित होकर कर्म्म करे, फल की चिन्ता न करे, फलाफल की चिन्ता प्रभु की वस्तु है—

मोर सुधारहिं सो सब भाँती।
जासु कृपा नहिं कृपा अघाती॥

इस प्रकार गीता का विवेकसंयुक्त विश्वासधीर निष्काम-कर्म्म अथवा अनासक्त योग तुलसीदास के राम-काव्य का लक्ष्य था। उसी वैष्णवीय विश्वास से मंगलमय अनासक्त योग के जीवित-उदाहरण हमारे पूज्यचरण बापू हैं, जिन्होंने ज्ञानयोग को अपने राष्ट्रीय कर्म्मयोग में एक स्वरूप दे दिया है।

विश्वजीवन के महाभारत में एक दिन भारत ही अपनी इसी संस्कृति को लेकर पुनः दिग्विजयी होगा। इस वैज्ञानिक युग में, इस जड़-प्रतियोगिता के दुष्काल में, यदि किसी को संसार का सर्वश्रेष्ठ पुरुष उत्पन्न करने का श्रेय है तो इसी भारत को और वह महापुरुष है हमारा बापू। भौतिक सभ्यताओं की भीड़ में से निकलकर, अपनी लकुटिया से पथ-सन्धान करते हुए, वह भारत की ओर लौटा जा रहा है, साथियों को भी उसी ओर लौटा रहा है। वह भारत के जीवन में राम-काव्य को जगा रहा है। भारतीय संस्कृति के उस महा-वैतालिक का सन्देश हमें नतमस्तक शिरोधार्य्य है। किन्तु हम

नतमस्तक होकर उससे सौन्दर्य-कला की भी भीख (अनुमति) माँग लेंगे, जैसे हमने प्रभु से यह जीवन माँगा है। हम कहेंगे—बापू, हम तुम्हारे राम-काव्य के आध्यात्मिक समुद्र में कृष्ण-काव्य की एक गार्हस्थिक स्नेह-सरिता होकर आना चाहते हैं :

[७]

कृष्ण-काव्य मानव-जीवन का भावयोग है। ज्ञानयोग और कर्म्मयोग की भाँति ही यह भी एक दिव्य योग है। तुलसी ने ज्ञानयोग और कर्म्मयोग में इसी भावयोग का योग देकर योगियों की सम्पत्ति (राम-चरित्र) को गृहस्थों के उपयोग के लिए भी सुलभ किया था, क्योंकि वे एक समन्वयकार भक्त कलावान् थे। ज्ञानयोग, कर्म्मयोग और भावयोग ही क्रमशः सत्यम, शिवम्, सुन्दरम् हैं। कृष्ण-काव्य और वर्तमान छायावाद की कविता में केवल सुन्दरम् है। वर्तमान छायावाद में राधाकृष्ण या सीताराम नहीं हैं, किन्तु वही माधुर्य अनाम रूप से है। छायावाद ने सत्यम्-शिवम् की अवहेलना नहीं की है, बल्कि उन्हें सुन्दरम् में ही रस-मय कर दिया है, मानसिक सुधा को पार्थिव प्यालों में ही ग्रहण किया है। निर्गुण ने जिसे चेतना मय किया, सगुण ने जिसे मानव-मय किया, आधुनिक छायावाद ने उसे प्रकृति-मय किया। निर्गुण की चेतना को,

सगुण की प्रीति-प्रतीति को, उसने विश्व-प्रकृति में सजीव किया। सूफ़ियों ने भी यही किया था, किन्तु जीवन को वीतराग करने के लिए, जब कि छायावादी जीवन के प्रति अनुरागी भी हैं; एक लोक-रहित लौकिक हैं, सामाजिक जगत् में एक आन्तरिक समाज के स्रष्टा हैं। सूफ़ी रहस्यवाद निर्गुणवाद का ही माधुर्य रूप था, वह निर्गुण का परिष्कार था। उसी प्रकार वर्तमान छायावाद सगुण का परिष्कार है। दोनों परिष्कार रोमान्टिक हैं।

मध्यकाल में कृष्ण-काव्य का जो दुरुपयोग हुआ था उसका कारण यह है कि सौन्दर्य और प्रेम अत्यन्त ऐन्द्रिक हो गये थे। विजातीय पराधीनता में जिस प्रकार हमारी संस्कृति संकुचित हो गई थी, उसी प्रकार हमारे गृहस्थों की मनोवृत्ति भी। खाना-पीना, मौज करना, जीवन का यही रंगीन रूप शेष रह गया था। मनुष्य और प्रकृति का सार्वजनिक जगत् (विस्तृत मनोराज्य) विदेशी सल्तनत (भौतिक ऐश्वर्य) की ओट में ओझल हो गया था। विदेशी सल्तनत ने अपनी जिस कला की छाप हमारी कला पर डाली, वह कला ऐन्द्रिक थी। शृंगारी कवियों ने उस कला को, उस तर्जेअदा को अपनाया, किन्तु युगों के आर्य्य शोणित ने उस पर राधाकृष्ण का धूप-छाहीं रंग चढ़ाये रक्खा। साहित्य में पौराणिक संकेत से हमारी सामाजिक संस्कृति को सूर और तुलसी ने जिस लगन से जगाया, उसी का यह सुफल था कि ऐन्द्रिक कला के वातावरण में रहते हुए भी

शृंगारिक कवियों ने राधाकृष्ण का स्मरण बनाये रक्खा जब कि सूर और तुलसी अपने विरक्त और भक्त रूप में विजातीय समाज-तन्त्र के प्रभाव से अपने को अलग रखकर ही हमारे साहित्य में वैष्णव-कला को विशद कवित्व दे सके।

मध्ययुग में दाम्पत्य भाव सङ्कट में पड़ गया था। विजातीय संस्कृति अपने सद्गुणों के साथ ही अपनी विलासिता भी ले आई थी। हमारे यहाँ दाम्पत्य का जो सती आदर्श था, विजातीय रीति-नीति उससे भिन्न थी, उसमें मानवी स्खलन के लिए विशेष नियन्त्रण न था। नृपतियों की विलासिता के कारण जनसाधारण के लिए निश्चिन्त गार्हस्थिक जीवन दुर्लभ था। फलतः वैष्णव गृहस्थों की जो दाम्पत्यिक भूख थी वह शृंगारी कवियों की राधाकृष्ण-मूलक कविताओं में प्रकट हुई। राधाकृष्ण की झाँकियों ने हमारे सामाजिक जीवन में विजातीय रीति-नीति की बाढ़ को नवीन युग आने तक मिट्टी के बाँध (शारीरिक सौन्दर्य) से रोका। तत्कालीन वेश-भूषा की भाँति उन्होंने अपने काव्य में भी कुछ कलाविन्यास शासक-जाति से लिये, किन्तु आत्मा (संस्कृति) यथाशक्ति अपनी ही रक्खी। हम तो अपने उन कवियों को बधाई ही देंगे कि उन्होंने अपनी कविता को सर्वांशतः विजातीय ही नहीं बना डाला, बल्कि गृहस्थों के हृदय में राधाकृष्ण की प्रेम-प्रतिमा हनुमान् के हृदय में राम की मूर्त्ति की भाँति स्थापित कर रक्खी। उनकी कविताओं

में जो अतिरञ्जकता (उत्कट शृंगार) है वह नैतिक न्याय-तुला पर तौलकर नीति-विवेचन की चीज़ नहीं, बल्कि वह कला और इतिहास-विवेचन की चीज़ है। सूर और तुलसी की भाँति यदि उन्होंने भी कोई दार्शनिक सत्य प्रकट किया होता तो उसका नैतिक विवेचन भी हो सकता था, किन्तु जो उनका क्षेत्र नहीं, उन्हें उस क्षेत्र में रखकर देखना गुलाब को सरोवर में देखना है। अतएव, कला की दृष्टि से उनमें जो च्युति दीख पड़े, साहित्यिक सत्य के उद्घाटन के लिए उसी का विवेचन होना चाहिए। अश्लीलता उस युग की वह विकट प्यास है, जिससे विजातीय परिस्थितियों के कारण हिन्दू दाम्पत्य भाव का दारिद्र्य प्रकट होता है, अतएव शृंगारिक कवि सहानुभूति के पात्र हैं।

मदिरा से जैसे गला सूख जाता है उसी तरह विलासिता से सामाजिक जीवन सूख गया था। परन्तु कविता हमारी पुरातन सम्पत्ति थी, यही नहीं, हमारी जाति ही कविता की जाति है, इसी लिए सामाजिक जीवन के मरुस्थल में शृङ्गारिक कवियों ने प्रणय-रचनाओं से ही कुछ सरसता बना रक्खी थी। रीति-काल में शृङ्गार रस की प्रधानता का एक कारण यह भी है कि उसके कवि शृङ्गार को ही रसराज मानते थे। उनके दृष्टिकोण से मतभेद हो सकता है, किन्तु उनका कवित्व, जहाँ तक वह रसराज के राज में अराजकता (अश्लीलता) नहीं उत्पन्न करता, सुग्राह्य है।

[८]

आज मध्य-युग का सम्मोहन दूर हो जाने पर, आधुनिक कवियों ने, सूर और तुलसी की भाँति भक्त न होते हुए भी, अपनी मुक्त मानसिकता से सूर और तुलसी की विशद कला को समझा तथा मानवी भावों को जीवन के बहुविध रूप में (केवल दाम्पत्य रूप में ही नहीं) सामाजिक और प्राकृतिक विस्तार दिया। गुप्तजी ने खड़ी बोली में तुलसी को जगाया, छायावादियों ने सूर, कबीर और मीरा को। गुप्त जी और उपाध्याय जी अपनी काव्य-रचना को एक सामाजिक भूमि पर लेकर खड़े हुए, इसी लिए उसमें विविध रूप में लोकनायक सीताराम और राधाकृष्ण हैं; किन्तु छायावादी अपनी रचनाओं को लेकर मानसिक भूमि पर खड़े हुए, अतएव उसमें लोक नहीं, लोकाभास है; वस्तुजगत् नहीं, भावजगत् है। इसी लिए दोनों काव्य-समूहों की कला में भी अन्तर है। भारतीयता दोनों की ही कला में है, किन्तु गुप्त जी और छायावादियों की भारतीयता में महात्मा गांधी और कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भारतीयता का अन्तर है।

मनुष्य की तरह साहित्य भी आदान-प्रदान ग्रहण करते हुए चलता है; व्यक्तित्वपूर्ण मनुष्य और व्यक्तित्वपूर्ण साहित्य, दोनों अपने आदान-प्रदान में एक आत्म-चेतना बनाये रखते हैं। वे अपने को खो नहीं देते, अन्धअनुकरणशील नहीं हो जाते,

बल्कि वे अपने पूर्व और वर्तमान युग से अधिकाधिक प्रकाश ग्रहण कर अपने युग को भी स्मरणीय बना जाते हैं। मध्यकाल में सूर और तुलसी ने यह प्रकाश अपने मनोवांछित संस्कृत-साहित्य से ग्रहण किया, इसी लिए उनमें संस्कृत भारत की स्वच्छ संस्कृति है। शृङ्गारिकों ने कृष्ण-काव्य और मुस्लिम भावुकता से रस ग्रहण किया, इस रस-ग्रहण में उनकी आत्म-चेतना बहुत सजग न रह सकी, इसी लिए सूर और तुलसी की भाँति उनमें भारतीय संस्कृति शरद्ज्योत्स्ना की भाँति स्वच्छ न होकर एक धुँधली चाँदनी-जैसी है अवश्य।

वर्तमान ही नहीं, किसी भी युग का समाधान अतीत के सांस्कृतिक कोष में भी है, जैसे 'गीता' में कल्पान्त का सार-अंश। कालावधि से जिस प्रकार मनुष्य का आकार-प्रकार अपने समय का भौगोलिक स्वरूप धारण करता है, उसी प्रकार कला संस्कृति के मूलतन्तु को बनाये हुए, देश-काल का रूपरङ्ग ग्रहण करती है।

इसी आधार पर मध्ययुग में शृंगारिक कवियों ने मुस्लिम कला से आदान लिया था, आधुनिक युग में छायावादी कवियों ने अँगरेजी कला से। अँगरेजी कला बीसवीं शताब्दी की विद्युत् की भाँति जगमगाती हुई कला है। किसी भी सजग कला को ग्रहण करने में हमारी संस्कृति उदार है, अपने को खो देने के लिए नहीं, बल्कि अपने अस्तित्व को सिन्धु-विस्तार देने

के लिए। अपने में ग्राह्यशक्ति तभी आती है जब हम में अपनी संस्कृति और कला की क्षमता एक मूलधन के रूप में बनी रहती है। छायावाद के आधुनिक प्रवर्त्तकों ने अपना मूलधन संस्कृत और हिन्दी साहित्य से पाया है, नवीन शताब्दी के प्रकाश में नवीन वर्णच्छटा से उसी को रूपाभ दिया है।

साहित्य में जब-जब आदान चलेगा, तब तब उस आदान में अपने मूलधन की ओर संकेत देने के लिए हमारे कुछ पूर्वज कवि हमें अपना सांस्कृतिक सन्देश भी सुनाते रहेंगे। मध्य-काल में सूर और तुलसी ने सांस्कृतिक संकेत दिया, आधुनिक काल में भारतेन्दु जी, गुप्त जी और प्रसाद जी ने; भारतेन्दु और प्रसाद ने अपने नाटकों में और गुप्त जी ने अपनी कविताओं में। यह अवश्य है कि इन साहित्यिकों का सामाजिक ढाँचा पुराना है, जब कि आवश्यकता है सांस्कृतिक चेतना धारण करने के लिए नवीन शरीर की भी।

व्रजभाषा के अन्तिम प्रतिनिधि

विगत युग का सम्मिश्रण—स्वर्गीय रत्नाकरजी व्रजभाषा-काव्य के अन्तिम ऐतिहासिक प्रतिनिधि थे। अतीत के जो प्रतिनिधि, वर्तमान में उपस्थित होते हैं, वे न केवल इतिहास के एक सीमित संस्करण मात्र होते हैं, बल्कि अतीत का वर्तमान से अभिसन्धि कराने में वे बीते युग को एक विशेष उत्कर्ष के साथ लेकर उपस्थित होते हैं। वे युग के सन्देश वाहक मात्र होकर नहीं उपस्थित होते, बल्कि स्वयं प्रायः वही युग होकर उपस्थित होते हैं। इनके द्वारा इनका सम्पूर्ण युग बोलता है। हमारे वर्तमान साहित्य में रत्नाकरजी के कवित्व में परिणत होकर उनका वाञ्छित युग बोल उठा था। जब हम यह कहते हैं कि उनके द्वारा उनका सम्पूर्ण युग बोलता है तो इसका अभिप्राय यह है कि प्राचीन हिन्दी-कविता जिन अनेक उपादानों से पूर्ण होकर एक युग को परिपूर्ण कर चुकी है, उन सभी उपादानों का संयोजन उनकी कृतियों में यथासम्भव मिलता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि प्राचीन हिन्दी-कविता की सम्पूर्ण विशेषताएँ परिपूर्णतः उन्हीं में निहित होकर केन्द्रित हो गई थीं, बल्कि यह कि जिस प्रकार मनुष्य अनेक छोटे-मोटे प्रसाधनों से युक्त होकर एक खास रूप में विशेष आचार-विचार

और संस्कृति का समष्टितः परिचय दे जाता है, उसी प्रकार रत्नाकरजी ने अपने काव्यों को अतीत के विभिन्न प्रसाधनों से यथानुरूप सज्जित कर गत युग को मूर्त्त किया था।

हम यह तो नहीं कह सकते कि उस युग की परिपूर्ण विशेषताओं से रत्नाकरजी ने अपने काव्य को सर्वाङ्गभूषित कर दिया है, परन्तु यह जरूर है कि उन्होंने एक युग के काव्य-साहित्य के विशेष-विशेष अलङ्करणों से (जिनमें अतीत-युग की खास-खास रुचियाँ सन्निहित हैं)—यथास्थान सुशोभित कर अपने मनोनीत युग को प्रकाशित किया है। उनकी विविध कृतियों को जब हम देखते हैं तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनकी कृतियों में न तो केवल एक रस है और न केवल एक काव्य-पद्धति। रसों के क्षेत्र में वे न केवल शृङ्गारिक कवियों के प्रतिनिधि हैं बल्कि वीर-काव्य और रीति-काव्य के कवियों की प्रवृत्तियों के भी समयानुरूप परिचायक हैं। काव्य-पद्धति में कहीं तो वे मुक्तक कवि हैं और कहीं प्रबन्ध-काव्य के कवि।

लीरिक कविता—यह बात जरूर है कि रत्नाकरजी की कृतियों में भक्तिकाल का कोई सन्तोषजनक प्रतिनिधित्व नहीं दीख पड़ता। हमारा तात्पर्य भक्तिकाल की केवल ईश्वरोन्मुख भावना से नहीं, अपितु उस काल की भावनाओं में सूर और तुलसी के सङ्गीतमय पदों (लीरिक कविताओं) ने जो रसात्मकता पाई, वह रत्नाकर जी से वंचित ही रही। रत्नाकरजी मुक्तकों और

प्रबन्धों के कवि तो थे किन्तु लीरिक (गीत) कवि नहीं थे, यदि ऐसा होता तो उनके प्रतिनिधित्व को पूर्णचन्द्र का यश मिलता। लीरिक-कवि होना किसी युग के प्रतिनिधि होने पर ही निर्भर नहीं, यह तो कवि की हार्दिक रसार्द्रता पर निर्भर है। लीरिक-कविता, काव्य-साधना से अधिक आत्म-साधना की अपेक्षा रखती है। मनुष्य जब वाणी में ही नहीं, मन में भी भीगने लगता है, तब उसका हृदय केवल रस-मात्र रह जाता है, जैसा कि कवि पन्त ने लिखा है—

सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
पिघल बन जाते हैं गुञ्जार।

लीरिक-कविता में इसी प्रकार कवि-हृदय गुंजार-रूप हो जाता है सब तरह से अपने अस्तित्व को विलीन कर रसमात्र रह जाता है। संगीत जब गायनमात्र रहता है तब वह असहाय और काव्य से निर्बल होता है। परन्तु जब गायन को काव्य का सहयोग मिल जाता है तब वह गायन मात्र न रह-कर संगीत (गीत-संयुक्त या गीत-काव्य) हो जाता है और उसमें काव्य से भी अधिक रसस्पर्शिता आ जाती है। निस्संदेह काव्य को संगीत से उच्च माना गया है, क्योंकि काव्य में लोक-पक्ष अधिक आ जाता है। किंतु यह लोकपक्ष जिसके द्वारा रसान्वित होता है, वह हृदय-पक्ष (कवि का आत्मपक्ष) संगीत में ही एकान्ततः विस्फुरित दीख पड़ता है। संगीत में हम कवि को पकड़ सकते

हैं, सारी मिलावटों से अलग करके देख सकते हैं कि वह स्वयं क्या है, उसकी अपनी आत्मा कितनी व्यंजित है। 'रामचरित-मानस' के अतिरिक्त गोस्वामीजी ने 'विनय-पत्रिका' में भी अपने हृदय को निःसृत किया, यह उनके कवि (हृदय-पक्ष) की एकान्तता थी। 'रामचरित-मानस' के लोक-समूह में यदि गोस्वामीजी का आत्मकवि किसी संकीर्तन-मंडली में सम्मिलित सा हो गया है (जिसमें सबके अनुरूप ताल-स्वर हैं) तो 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी की अपनी ही टेक है, उसमें वे आत्मलीन हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि लीरिक-कविता, काव्य-साधना से अधिक आत्मसाधना (आत्मनिमग्नता या एकमात्र हृदय-विदग्धता) की अपेक्षा रखती है। इसके यह माने नहीं कि सभी लीरिक-कवियों में आत्मसाधना होती है। जिस प्रकार काव्य-क्षेत्र में परम्परा-द्वारा परिचालित होकर अभ्यासतः मनुष्य कवि बन सकता है, उसी प्रकार गीत-क्षेत्र में भी गीतकार हो सकता है, परन्तु गीतों की रस-विदग्धता का परिमाण ही प्रकट कर देता है कि उसमें कितना अभ्यासतः (श्रमेण) है और कितना स्वभावतः (स्वयमेव) है।

अभ्यासशील कवि—सारांश यह कि रत्नाकरजी में जितनी काव्य-साधना थी उतनी आत्मसाधना नहीं। वे जितना एक श्रमनिपुण कवि थे उतना स्वभाव-सिद्ध कवि नहीं। वे लीरिक

कवि नहीं हैं, केवल यह उनका अभाव नहीं; बल्कि उनकी जो कृतियाँ हैं उन्हीं में जब हम उन्हें ढूँढ़ते हैं, तब हम उक्त निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। 'रामचरितमानस' के संगीतकाव्य न होने पर भी जब हम उसमें कवि को ढूँढ़ते हैं, तब 'विनय-पत्रिका' के गोस्वामीजी 'मानस' में छिपे नहीं रहते। परन्तु चाहे आत्मसाधना-संयुक्त हो, अथवा आत्मसाधना-रहित, मनुष्य का प्रकृत या अप्रकृत कोई व्यक्तित्व तो रहता ही है; जैसे प्रत्यक्ष-जीवन में सभी आत्मसाधक नहीं होते, फिर भी सबका एक व्यक्तित्व है। ऐसे ही लोक-समूह के भीतर से उठकर जो रत्नाकरजी काव्य-क्षेत्र में हमारे सामने उपस्थित हैं, हमें उन्हीं पर दृष्टिपात करना चाहिए।

काव्य-शृंखला—कहा जाता है कि 'भक्तों और शृंगारिकों के बीच की कड़ी रत्नाकर के रूप में प्रकट हुई थी।' निःसंदेह यह कड़ी रत्नाकरजी के 'उद्धव-शतक' और 'हिंडोला' तथा अन्यान्य प्रबन्ध और मुक्तक काव्यों में स्पष्ट है, परंतु यह कड़ी 'बाँधी' गई है, 'बँधी' नहीं है। क्योंकि ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि रत्नाकरजी के कृतित्व में पिछले खेवे की सभी काव्य-पद्धतियों का संमंथन नहीं है, कुछ बन्द छोड़कर केवल एक शृंखला मिला देने का प्रयत्न है।

वर्तमान युग में आकर रत्नाकरजी ने देखा कि आज के साथ उनकी रुचि और भावनाओं का कोई सामंजस्य संभव

नहीं जान पड़ता । जिन सामाजिक और साहित्यिक परम्पराओं में उन्होंने अपने को विकसित किया था, उसे देखते यह संभव था भी नहीं । अतएव, वे जिन बीते हुए संस्कारों में से होकर आये थे, उन्हीं के 'कल' की ओर लौट पड़े । यहाँ उन्हें अपनी काव्य-यात्रा के लिए प्रशस्त क्षेत्र मिला । वर्तमान युग के भावुक, अतीत के कवियों की एक-एक विशेषता से चिरपरिचित हैं, यदि उन्हीं में से किसी एक की ही विशेषता लेकर रत्नाकरजी उपस्थित हो जाते तो वे कदाचित् अपने प्रति कोई नवीन आकर्षण न उत्पन्न करते । अतएव, उन्होंने संकलन-बुद्धि से काम लिया । वीर-काल, भक्ति-काल, शृङ्गार-काल की भावनाओं का न्यूनाधिक परिमाण में संकलन कर अपनी भाषा और शैली में एक निजी व्यक्तित्व स्थापित किया । चीज़ें वही थीं, किंतु उनका नियोजन समूह बद्ध था—पुष्प-स्तवक की भाँति । किसी वृन्त पर नाना परिचित पुष्पों को पृथक्-पृथक् देखकर फिर उन्हें उसी रूप में देखने में वही आकर्षण नहीं रह जाता जो आकर्षण उन्हें गुच्छ-रूप में एकत्र देखने पर होता है । यद्यपि इसमें एक अप्राकृत आकर्षण है । वर्तमान काल में अतीत के काव्यों के संयोजन से रत्नाकरजी ने यही आकर्षण उत्पन्न किया । इसी लिए हम कहते हैं कि उन्होंने किसी नवीन सृष्टि का नहीं, बल्कि 'प्रयास' की एक नवीनता का परिचय दिया ।

कवि-परिवार—अतीत के जिस कवि-परिवार से रत्नाकरजी वर्तमान युग में आये थे, वह परिवार बहुत बड़ा था। रत्नाकरजी उस परिवार में स्वेच्छानुरूप सम्मिलित थे। व्यक्ति अपने परिवार की लघुता या विशालता से मंडित तो रहता ही है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें अपने परिवार की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति हो ही जाती है। उसका एक संसार तो अपने परिवार का रहता है, किंतु उस संसार में रहते हुए भी उसका एक स्वनिर्मित संसार भी रहता है। परिवार में सम्मिलित होकर भी अपने संसार में उसका एक अपनापन (व्यक्तित्व) रहता है। इसी प्रकार रत्नाकरजी भी अपने विश्रुत कवि-परिवार में रहकर भी अपनी कृतियों में एक अपनापन छोड़ गये हैं। वह किस संसार में है ?—हिन्दी के शृंगार-युग में, जिसमें माधुर्य-भाव की मुख्यता है। सच तो यह है कि रत्नाकरजी 'हरिश्चन्द्र', 'कलकाशी' या 'गंगावतरण' में उतने नहीं हैं, जितने कि 'हिंडोला' या 'उद्धव-शतक' में। 'हिंडोला' और 'उद्धव-शतक' के पद्यों में उनके मनोवांछित काव्य-संसार का एक मनभावन चित्र है; इनमें उनके हृदय की रसात्मकता का सहज परिचय मिलता है। अपनी अन्य रचनाओं में वे यदि केवल एक शाब्दिक कलाकार हैं तो 'उद्धव-शतक' और 'हिंडोला' में एक भावुक कवि भी। इनमें उनकी कला प्रस्फुटित दिखाई देती है।

सूक्ति और भाव—रत्नाकरजी सूक्तियों के कवि हैं। कथन की वक्रता (चाहे इसके लिए स्वाभाविक कल्पना का अतिक्रमण कर अतिशयोक्ति ही क्यों न करनी पड़े) रीति-प्रेरित कवियों में (जिनमें रत्नाकरजी भी हैं) अधिक दीख पड़ती है, जिससे भाव का 'अनूठापन' नहीं, बल्कि कथन का 'अनोखापन' प्रकट होता है। कथन वैचित्र्य, जो कि नाट्यकला की एक विशेषता हो सकता है, काव्य-कला में सूक्ति बनकर स्थान पा गया है। कुछ अंशों में, प्रबन्ध या संलापात्मक काव्यों में यह नाट्यांश फब जाता है, परन्तु जहाँ भाव द्वारा सीधे हृदय से लगाव की आवश्यकता है, वहाँ इस प्रकार की नाटकीयता एक काव्याभिनय मात्र मालूम होती है।

प्राय: प्राचीन कवियों में भाव की अपेक्षा कथन की ओर इतना झुकाव क्यों है? इसका कारण काव्य को शुद्ध कवित्व की दृष्टि से न देखकर अनेक कलाओं के एक व्यसन के रूप में देखना है। परिणामत: काव्य जीवन के रसात्मक स्पर्श की दृष्टि से गौण हो गया और वाग्विनोद या वाग्विलास के रूप में अधिक प्रकट हुआ। इसे यदि हम कुछ अधिक उदार दृष्टि से कहें तो कह सकते हैं कि किसी युग का विशिष्ट समाज जब परस्पर के हार्दिक वार्तालाप से परितृप्ति पा चुका होगा तब उसे कुछ अतिरंजकता की भूख जगी होगी। वही भूख वाग्विदग्धता द्वारा काव्य में शान्त की गई।

हाँ, वाग्विदग्धता बुरी चीज तो नहीं, किन्तु उसका केवल सूक्ति-प्रधान होना शुद्ध कवित्व के लिए बाधक है। वाग्वि-दग्धता तो सूक्तिमय भी हो सकती है और भावमय भी। भाव-मय होने पर कवि से आन्तरिक साक्षात्कार होता है और सूक्ति-मय होने पर आलंकारिक चमत्कार का कौतूहल।

हम यह तो नहीं कहेंगे कि रत्नाकरजी के काव्यों में उनका आन्तरिक साक्षात्कार होता ही नहीं, किन्तु इसकी अपेक्षा उनमें चमत्कारजन्य कौतूहल अधिक आकर्षक हो गया है। इसके लिए वे क्षम्य हैं, क्योंकि वे केवल स्वयं कवि होकर ही उपस्थित नहीं हुए, बल्कि युगविशेष की एक काव्य-रुचि के प्रतिनिधि होकर भी आये। यद्यपि इस प्रतिनिधित्व में उनकी रुचि का असामंजस्य नहीं—अनचाहा प्रतिनिधित्व वे ग्रहण ही क्यों करते।

रत्नाकर और पद्माकर—कहा जाता है कि रत्नाकरजी के विशेष प्रिय कवि पद्माकर थे। किसी जमाने में उन्होंने 'रत्ना-कर' के बजाय 'कहै पद्माकर' जोड़कर कुछ पद्य लिखे थे और लोगों को पद्माकर के ही कवित्व का भ्रम हो गया था। यदि यह बात ठीक है तो सचमुच रत्नाकरजी बड़े मनोविनोदी थे!

क्या पद्माकर ही रत्नाकरजी के काव्यादर्श थे? लोकोक्तियों और यत्र-तत्र रत्नाकरजी की पंक्तियों से इस बात का परिचय तो मिलता है; 'समालोचनादर्श' में एक स्थल पर उन्होंने लिखा भी है—

सब्द-माधुरी- सक्ति प्रबल मन मानत सब नर,
जैसौ हो भवभूति भयौ तैसौ पदमाकर।

ज्ञात नहीं, भवभूति के साथ पद्माकर को रत्नाकरजी ने किस मौज में रखा है ! अन्त्यानुप्रास के लिए या अपनी काव्य-रुचि का आदर्श स्पष्ट करने के लिए ? दूसरी बात ही ठीक जान पड़ती है। ये पंक्तियाँ उस समय की हैं जब रत्नाकरजी हमारे काव्य-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान नहीं बना सके थे। अतएव, अपने प्रारंभिक कवि-जीवन में उन्होंने पद्माकर से स्फूर्ति ग्रहण कर उन्हें अपना काव्यादर्श माना हो और अपने नवोत्साह के कृतज्ञता-वश सदैव उनका गुणानुवाद किया हो तो आश्चर्य नहीं। किंतु इसी से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि रत्नाकरजी एकमात्र पद्माकर के अनुगामी थे। पद्माकर से प्रेरित वे अवश्य थे, किन्तु रत्नाकर ने सब कुछ वही नहीं किया जो पद्माकर ने हमारे काव्य-साहित्य को दिया था। पद्माकर से उन्होंने मुक्तक कवित्तों का पद-प्रवाह लिया और वहीं से प्रबंध-काव्य की प्रेरणा भी ली, यह दूसरी बात है कि उन्होंने पद्माकर की तरह 'गंगा-लहरी' न लिखकर 'गंगावतरण' लिखा। इस प्रकार काव्य की विषय-सामग्रियाँ तो उन्होंने पद्माकर से अवश्य पाईं, किन्तु उनमें आत्मा अपनी रखी। इस आत्मा का उत्कर्ष उन्होंने उस कवि के कलादर्श पर किया जो पद्माकर के लिए भी अभिप्रेत था

और अपनी असमर्थतावश पद्माकर उसकी छाया भी न छू सके। 'पद्माकर' का 'राम-रसायन' देखने से ज्ञात होता है कि गोस्वामीजी के 'रामचरितमानस' की महिमा से प्रभावित होकर 'कवयः किं न जल्पन्ति' के अनुसार अपनी पहुँच दिखाने के लिए, प्रबन्ध-कवि बनने के लिए भी वे प्रयत्नशील हुए थे। उनका चपल-प्रयास रत्नाकरजी के कवित्व में गम्भीररूपेण प्रकट हुआ। इसका कारण यह है कि मध्ययुग के हिन्दी-काव्य की सफलता-असफलता ने रत्नाकरजी को एक विवेक प्रदान कर दिया था और चत्मकार-प्रेमी होकर भी उन्होंने ज़रा जमी हुई लेखनी से अपनी कृतियाँ लिखीं; अतएव वे पद्माकर की कृतियों की तरह चंचल या हलकी नहीं हो गईं। रत्नाकरजी ने पद्माकर से जो काव्य-अंकुर पाया वह केवल पद्माकर के ही काव्यस्पर्श से नहीं फला-फूला, बल्कि अपने मनोनीत युग के अन्य वातावरणों से भी उन्होंने काव्यमय अस्तित्व ग्रहण किया। प्राचीन हिंदी-कविता में विशेष रूप से दो आदर्श प्रचलित थे - एक तो मुक्तक शृङ्गारिकों का, दूसरा भक्तों का— जिसमें तुलसी, सूर और कबीर प्रमुख हैं। शृङ्गारिक कवियों में जो कवि दोनों काव्यादर्शों की ओर चलना चाहते थे उन्हीं में पद्माकर और रत्नाकर थे। भक्त कवियों का आदर्श ग्रहण करते समय उन्हें सूर की अपेक्षा तुलसी ही अधिक सुविधाजनक प्रतीत हुए, क्योंकि उनकी प्रबन्ध-पद्धति को अपनाने

में अपने मुक्तकों का पृथक् बानक बनाये रखने की सुविधा थी। सूर तो मुक्तक पदों के संगीत-कवि हैं, उनका अनुसरण करने से तो शृङ्गारिक कवियों को अपने मुक्तकों का वेश-विन्यास ही खो देना पड़ता। अतएव, सूर से उन्होंने काव्य-कला का बाह्य रूप तो नहीं ग्रहण किया किन्तु काव्य का माधुर्य-भाव गार्हस्थ्य जीवन के अनुरूप ग्रहण किया; भक्त होकर नहीं, अनुरक्त होकर। और कबीर का अनुसरण कोई करता ही क्यों, वहाँ तो बात यह थी—'जो घर फूँके आपना, चले हमारे साथ।'—फिर भला कोई गृहस्थ कवि (शृङ्गारिक) इसके लिए तैयार ही कैसे हो सकता था।

संकलन-बुद्धि—हाँ, तो सूर से माधुर्यभाव, तुलसी से प्रबन्ध-पद्धति और शृङ्गारिक कवियों से मुक्तक-शैली लेकर रत्नाकरजी ने अपनी संकलन-बुद्धि का परिचय दिया, मुख्यत: एक रीतिकालीन प्रतिनिधि के रूप में। प्रबन्ध-काव्यों की रचना उन्हें रीतिकाल से अलग करती है, किन्तु वे अलग नहीं हैं, बल्कि केशव और पद्माकर की तरह उससे संयुक्त हैं। यह सन्तोष की बात है कि रत्नाकरजी, केशव और पद्माकर से उच्च-कोटि के प्रबन्ध-कवि हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि रीतिकाल की अपेक्षा उन्होंने अधिक नवीन बातें दीं। सच तो यह है कि रत्नाकरजी ने उस युग के कवित्व का ही इनलार्ज-मेंट कर दिया है, उसे गम्भीर प्रसार दे दिया है। उनमें नवीन

विषय, नवीन भाव और नवीन पद-विन्यास नहीं हैं। उस प्राचीनता में यदि कोई नवीनता है तो यह कि उसमें रत्नाकर का अपना बानक है, अपनी अभिव्यक्ति है। इस प्रकार के कवियों को उन्हीं के युग में रखकर देखना चाहिए, जैसे किसी इतिहास को उसके वाञ्छित-काल में रखकर देखा जाता है।

नवीन कविता-प्रेम—यद्यपि रत्नाकरजी खड़ीबोली की वर्तमान कविता से विशेष सहमत नहीं थे, तथापि उनकी सहृदयता छन्द-रचना करना ही नहीं जानती थी, बल्कि मार्मिक भावुकता को भी पसन्द करती थी, चाहे वह किसी भाषा में हो। नवीन युग की हिन्दी-कविता—जिसमें छायावाद की भाव-प्रवणता है—उन्हें भीतर ही भीतर आकर्षित कर चुकी थी, यहाँ तक कि काव्य-सम्बन्धी वार्तालापों में वे प्रायः उन कविताओं का ज़िक्र किया करते थे और बड़े चाव से पढ़ते थे।

रत्नाकरजी अँगरेज़ी से अभिज्ञ तो थे ही, अपनी इस अभिज्ञता का उपयोग उन्होंने यत्र-तत्र अपने काव्यप्रसार में भी किया है। हिन्दी रीतिकाल की परम्परा और उतनी ही प्राचीन अँगरेज़ी कविता (जिसे हम क्लासिकल स्कूल की कविता कह सकते हैं) इन्हीं दोनों के समन्वय से रत्नाकरजी ब्रजभाषा-साहित्य में शोभन हो सके थे। यदि पाश्चात्य कविता की उस आधुनिकतम प्रगति से, जिससे आज के अनेक हिन्दी कवि तथा श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रेरित हैं, रत्नाकरजी भी प्रेरित होते तो

यह एक कौतूहलपूर्ण बात है कि रत्नाकरजी के काव्य का स्वरूप क्या होता !

छायावादी प्रयोग—रत्नाकरजी चाहे जिन काव्य-प्रेरणाओं से व्रजभाषा साहित्य में आये हों, परन्तु थे वे भावुक। एक परम्परा के भीतर रहकर भी उन्होंने अपनी स्वतन्त्र भावुकता स्फुरित की है। वर्तमान छायावाद की कविता में जिस प्रकार के सूक्ष्म भाव-प्रवण साङ्केतिक शब्दों का प्रयोग दीख पड़ता है, रत्नाकरजी की कविता में (विशेषतः 'गङ्गावतरण' में) भी यत्र-तत्र वैसे ही प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिए उनके काव्यों से कुछ उद्धरण—

(१) रह्यौ भूप कौ रूप भावना के लेखा सौ।
अस्ति-नास्ति के बीच गनित-कल्पित रेखा सौ॥

—'गङ्गावतरण'

'गनित-कल्पित रेखा' से तपःकृश शरीर की उपमा आधुनिक है। बिहारी भी (जिन्होंने अपने काव्य-चित्रों के लिए अपनी विविध शास्त्रीय अभिज्ञता का प्रचुर उपयोग किया है) विरह-कृश शरीर के लिए इतनी अच्छी उपमा न पा सके।

(२) लगी सारदा प्रेम-पुलकि कलकीरति गावन।
बीना मधुर बजाइ झूमि नूपुर झनकावन॥

लयलीकनि सों चारु चित्र बहु भाय खिंचाये।
रुचिर रागरँग पूरि हृदय दृग लोभ लुभाये॥
—'गङ्गावतरण'

इसमें 'लय-लीकनि' (लय की रेखाओं) का निर्देश स्वाभाविक और वैज्ञानिक है। अमूर्त लय का भी रेखा-चित्र हो सकता है, कवि के इस सत्य को आज ग्रामोफोन के रेकार्डों ने प्रत्यक्ष कर दिया है।

(३) भर्यौ भूरि आनन्द हृदय तिहिं लगे उलीचन।
पौन-पटल पर भव्यभाव अन्तर के खींचन॥
—'गङ्गावतरण'

अन्तर के भावों को 'पौन-पटल' (पवन-पट) पर खींचना कितनी सूक्ष्म व्यञ्जना है! हम जो कुछ कहते हैं वे आकाश में खो नहीं जाते, बल्कि वायु में सुरक्षित रहकर लहराते रहते हैं, उन्हें ही वैज्ञानिक यान्त्रिक वाद्यों में सञ्चित कर देते हैं। अब तो तत्काल के ही शब्द नहीं, बल्कि बीते दिवसों के अतीत शब्दों को भी वे यन्त्र-सञ्चित कर देने के प्रयत्न में हैं। और आश्चर्य नहीं, कवि जितनी अगोचर कल्पनाएँ करता है, एक दिन विज्ञान उन सबको प्रत्यक्ष कर देगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की कल्पना भी सत्य है, उसमें मानसिक मिथ्यापन नहीं। हाँ, कल्पना एक प्रमाणरहित सत्य है, परन्तु यदि प्रमाण के लिए हम विज्ञान पर ही अवलम्बित होंगे तो सत्य अपना सौन्दर्य खो

देगा, अनेक वैज्ञानिक विभीषिकाएँ इसका उदाहरण हैं। कवि के सत्यों की कसौटी तो सहृदयों की आत्मानुभूति ही होनी चाहिए न।

(४) कहै 'रत्नाकर' गुमान के हिये में उठी।
हूकमूक भायरिन की अकह कहानी है॥
—'उद्धव-शतक'

इसमें 'हूकमूक' (मूक वेदना) द्रष्टव्य है। छायावाद की कविता मूक वेदना और नीरव-गान के लिए बदनाम है, किन्तु रत्नाकरजी का 'हूकमूक' तो एक प्रकार से इन प्रयोगों की व्याख्या-सी कर देता है।

शब्द-चातुरी—रत्नाकरजी शब्दों के प्रयोग में निपुण हैं। ऊपर के उदाहरणों के अनुसार जहाँ उनके शब्द एक गूढ़ साङ्केतिक व्यञ्जना करते हैं, वहाँ शब्दों की एक सरल व्यञ्जना भी दीख पड़ती है—

(१) चाहत जौ स्वबस सँजोग स्यामसुन्दर कौ,
जोग के प्रयोग मैं हियौ तौ बिलस्यौ रहै।
कहैं रत्नाकर सु-अन्तर-मुखी ह्वै ध्यान,
मञ्जु-हिय-कञ्ज जगी जोति मैं धस्यौ रहै॥
—'उद्धव-शतक'

यह निर्गुण ध्यान के लिए उद्धव का गोपियों को उपदेश है। गोपियाँ 'सु-मुखी' हैं इसी लिए श्याम 'सुन्दर' को ही चाह रही हैं।

यदि वे सु-अन्तर-मुखी हो जायँ तो निर्गुण को भी पा जायँ। यहाँ एक चिरपरिचित 'सुमुखी' शब्द का चमत्कार है।

(२) करत उपाय ना सुभाय लखि नारिन कौ,
भाय क्यों अनारिनि कौ भरत कन्हाई हैं।

—'उद्धवशतक'

इसमें 'अनारिन' शब्द की व्यञ्जना पर ध्यान जाता है। यह एक साधारण महावरा है, किन्तु यहाँ इसी में एक बात छिपी है। 'नारिन' और 'अनारिन' के यमक से बात में जान आ गई है।

(३) रङ्ग-रूप-रहित लखात सबही हैं हमें,
वैसौ एक और ध्याइ धीर धरिहै कहा।
एक ही अनङ्ग साधि साध सब पूरी अब,
और अङ्ग-रहित अराधि करिहैं कहा॥

—'उद्धवशतक'

इसमें 'रङ्ग-रूप-रहित' का व्यङ्ग और 'अनङ्ग' का श्लेष प्रेक्षणीय है। इस प्रकार के उद्धरण रत्नाकर की कृतियों से बहुत दिये जा सकते हैं।

प्रबन्ध-काव्य—प्रबन्ध-काव्यों की विस्तृत भूमिका पर यदि हम न उतरें तो संक्षेप में यही कह सकते हैं कि प्रबन्ध-काव्यों में कवि की द्वित्वात्मक कला का परिचय अपेक्षित रहता है। एक तो है जीवन-कला, दूसरी है काव्य-कला। कथा-पक्ष कवि-द्वारा जीवन की कला का निदर्शन चाहता है; उपन्यासों, कहानियों

और नाटकों में हम यही निदर्शन पाते हैं, महाकाव्य में इन तीनों का समन्वय हो जाता है। काव्य-कला इन कथाकलाओं के रूखे-सूखे आवरण को एक संगीतपूर्ण मनोरमता प्रदान कर देती है। यह संगीत, रस के अनुसार कहीं कोमल रहता है, कहीं परुष।

'हिंडोला' रत्नाकरजी का एक वर्णनात्मक मुक्तक है, अतएव, 'हरिश्चन्द्र' को ही उनका प्रथम प्रबन्ध-काव्य कहा जा सकता है। रत्नाकरजी की सम्पूर्ण कृतियों को देखने से ज्ञात होता है कि वे मुख्यत: वर्णनात्मक कविता के ही कवि थे, विश्लेषणात्मक कविता (जिसमें वर्ण्य वस्तु की आत्मा विकीर्ण होती है) के कवि नहीं थे। फलत: उनकी सम्पूर्ण कविताओं में दृश्योद्घाटन प्रधान हो गया है, मर्म्मोद्घाटन गौण। दृश्योद्घाटन में निरीक्षण का परिचय मिलता है, मर्म्मोद्घाटन में आत्म-द्रवण का।

हरिश्चन्द्र की कथा, चिरविश्रुत लोक-कथा है। जन-साधारण की विदग्धात्मा से यह इतनी मर्म्मस्पर्शिनी हो चुकी है कि अब कोरा कथाकार उसमें कोई नवीनता नहीं ला सकता। उसमें नवीन प्राण लाने के लिए कवि की संजीवनी (कविता) की आवश्यकता है।

किसी कथा को यदि हम केवल छंदोबद्ध कर दें तो वह पद्य-प्रबन्ध बन जायगा, किन्तु प्रबन्ध-काव्य नहीं हो सकेगा। कथा तो प्रबन्ध-काव्य की सरिता का एक ऊपरी किनारा

है; उसका अन्तस्तल है उसका संगीत, उसका ऋजु-कुंचित जीवन-प्रवाह और गहन मनोवृत्तियों का भँवर-चक्र। संगीत* के कारण कथा, काव्य के निकट जाती है, जीवन-प्रवाह के कारण उपन्यास या कहानी के निकट और भाव-भंगी के निदर्शन-स्वरूप नाटक के निकट। कथा के परिमाण के अनुसार यह बात विचारणीय होनी चाहिए कि वह एक महाकाव्य होने की अपेक्षा रखती है या खण्डकाव्य में ही खिल सकती है। इसी प्रकार यह भी ध्यान देने की बात है कि केवल कविता और उपन्यास (या कहानी) के योग से ही वह पूर्ण प्रस्फुटित हो सकती है अथवा उसमें नाट्य का सहयोग भी वाञ्छित है। महाकाव्यों में (यदि वह केवल भाव-परक नहीं है तो) साहित्य की इस त्रिवेणी के संगम की अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि उसमें जीवन की केवल एक सीधी धारा नहीं, बल्कि अनेक दिशाओं की अनेक घुमी-फिरी धाराएँ बहती हैं। खण्डकाव्यों में साहित्य-कला का यह संगम अनिवार्य नहीं रहता। कवि यदि केवल कवि नहीं, बल्कि वह कलाभिज्ञ भी है तो वह स्वयं निर्णय कर सकता है कि वह कला की इस त्रिवेणी के भीतर से जीवन की मार्म्मिक अभिव्यक्ति कर सकता है अथवा इनमें से किसी

* यहाँ संगीत का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है, काव्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण विशेषताओं के लिए।

एक ही को लेकर। कथा तो सबमें रहती ही है, वह तो एक उपादान है; किन्तु कथा किस आकार-प्रकार एवं रूप-रंग में मार्म्मिक हो सकती है, यही कलाभिज्ञ को समझना है; यह समझना प्रबन्ध-काव्य के लिए कथा का डाइरेक्शन करना है। संभव है, जो कथा नाट्यभंगी की अपेक्षा रखती हो वह निरी कहानी-बद्ध होकर निर्जीव हो जाय; इसी लिए प्रबन्ध-काव्य का ही एक रूप गीतिनाट्य भी है।

सच तो यह है कि हममें से प्रत्येक के जीवन में केवल कविता ही नहीं, बल्कि नाटक और कहानी भी मिली हुई है। अतएव, जब हम जीवन की कला लेकर प्रकट होना चाहते हैं तब प्रबंध-काव्य में नाटक और कहानी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हाँ, इनका प्रसार प्रबन्ध-काव्य की मर्यादा के अनुसार ही होना चाहिए। महाकाव्य और खण्डकाव्य की मर्य्यादा की सीमा में भिन्नता है—महाकाव्य में काव्य के अतिरिक्त यदि नाटक और उपन्यास का योग रहता है तो खण्डकाव्य में कहानी और एकांकी नाटक का परिमाण रहता है।

रत्नाकरजी ने अपनी रीतिकालीन परम्परा से काव्यरुचि तो पाई थी, किन्तु नाटक, उपन्यास और कहानी की आधुनिकतम साहित्यिक रुचियों का उन्हें अनुराग नहीं मिला। यही कारण है कि हम उनके प्रबन्ध-काव्यों में कथा का प्राचीन रूप तो पा जाते हैं किन्तु जीवन-प्रवाह के लिए उसमें कोई नवीन पथ

नहीं दिखाई पड़ता। अतएव उनके प्रबन्ध-काव्यों में जो विशेषता द्रष्टव्य है, वह है उनकी काव्य-कला।

रत्नाकरजी की काव्य-कला में शब्द-चातुर्य्य पर एक सामान्य दृष्टिपात ऊपर किया जा चुका है। यहाँ उनके पद-प्रवाह और रस-संसार पर दो शब्द।

रत्नाकरजी ने 'हरिश्चन्द्र', 'कलकाशी' और 'गंगावतरण' तीनों प्रबन्ध-काव्यों में एक ही प्रकार के छंद का उपयोग किया है, जो कि उनकी वर्णनात्मक कविता के लिए ठीक बैठता है। मुक्तक वर्णनात्मक कविता में इस एक ही छंद की उपयुक्तता तो हो सकती है किन्तु किसी खण्डकाव्य में एक ही छन्द की गति पर विविध रसों का प्रवाह, संगीतपूर्ण नहीं हो सकता। इसी लिए गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में छन्दों का विविध उपयोग किया है। महाकाव्य के लिऐ ही नहीं, खण्ड-काव्य के लिए भी यह विविधता वाञ्छनीय है। भाषा का बहुत कुछ प्रवाह छन्द पर निर्भर रहता है। रत्नाकरजी के प्रबन्धकाव्यों की भाषा में पौरुष है और उनका छन्द-विन्यास भी उस पौरुष के अनुरूप ही है। किन्तु मधुर और करुण रस उस भाषा और उस छन्द में सुकोमल नहीं हो पाते। सच तो यह है कि रत्नाकरजी का शृङ्गार और करुणा भी पौरुषेय ही है। हाँ, 'हिंडोला' की शृङ्गारिक रचना में उनकी भाषा अपेक्षाकृत कोमल है। अपनी पहिले की रचनाओं में उन्होंने जहाँ ब्रजभाषा का

विगत (परम्परागत) व्यक्तित्व ग्रहण किया है, वहाँ कविता सरस हो गई है। इधर की रचनाओं में जहाँ भाषा का व्यक्तित्व उनके स्वतन्त्र अनुशीलन से चला है, वहाँ भाषा परुष-गम्भीर है। उसमें पाण्डित्य बहुत आ गया है। उसमें ओज है, माधुर्य नहीं।

रत्नाकरजी की भाषा आलंकारिक है। उत्प्रेक्षा, उपमा और सन्देहालंकार, भाव-वाक्यों को अग्रसर करने में व्रजभाषा की कविता में आम तौर से सहायक रहे हैं, और वही रत्नाकरजी की कविता में भी पद-पद पर दिखाई पड़ते हैं। जनु, मनु, ज्यों-त्यों, किधौं, इत्यादि, आलंकारिक भाषा के चिरप्रचलित मुहावरे-से बन गये हैं। अलंकारों में रूपक-अलंकार रत्नाकरजी की कविता में विरल है।

यह कहा जा चुका है कि रत्नाकरजी की भाषा में पौरुष है। अतएव उनकी भाषा का उत्कर्ष उत्कट रसों (जैसे, रौद्र, बीभत्स, वीर) में प्रकट हुआ है। उनका कवित्व भी इन रसों में अधिक घनीभूत है।

हमारे इन कथनों का स्पष्टीकरण उनके प्रबन्ध-काव्यों के पर्य्यवेक्षण से हो जायगा।

'हरिश्चन्द्र' की लोक-कथा करुणरस का एक श्रेष्ठ आलम्बन हो सकती है। किन्तु रत्नाकरजी करुणोद्रेक में सफल नहीं हुए। उनके हरिश्चन्द्र और शैब्या के उद्गारों में बँधी-बँधाई बात

के सिवा और कुछ है नहीं, रस-संचार के लिए उनमें कवि की लेखनी आर्द्र नहीं, स्याही सूखी हुई जान पड़ती है। हाँ, कहीं-कहीं एकाध करुण वाक्यखण्ड आ गये हैं जो नन्हीं-सी फुहार की तरह हृदय को भिगो जाते हैं। यथा—

(१) रोवत वऊ देखि तिनकौं लाग्यौ सिसु रोवन।
इनके कबहुँ, कबहुँ उनके आनन-रुख जोवन ॥

—'हरिश्चन्द्र'

(२) बिकनि देहु हमहीं पहिलै सुनि विनय हमारी।
जामैं ये हग लखे न ऐसी दसा तिहारी ॥

(३) कहौ विप्र सौं 'कीजै क्षमा नैंकु अब द्विजवर।
लेहिं निरखि भरि-नैन नाह कौ आनन सुंदर ॥
फिर यह आनन कहाँ, कहाँ यह नैन अभागी।'
यौं कहि बिलखि निहारि नृपति-रुख रोवन लागी ॥

(४) चलत देखि दुखकृत-विकृत मुख बालक खोल्यौ।
'कहाँ जाति, जनि जाइ माइ'—अंचल गहि बोल्यौ ॥

इन करुण उद्गारों को कवि ने अपनी मार्मिकता से स्पर्श नहीं किया है, बल्कि जनसाधारण की उक्ति के अनुसार ही इन्हें ग्रहण किया है। अपनी ओर से कवि ने प्रसंग को मार्मिक बनाने का प्रयत्न बहुत अल्प परिमाण में किया है।

नीचे के उद्धरणों में रत्नाकरजी की कलाकारिता कुछ-कुछ प्रकट हुई है—

इहि विधि ओझल भई दृगनि सौं उत महरानी।
इत आये दृग लाल किये कौसिक मुनि मानी॥

इन वाक्यों में एक नाटकीय व्यञ्जना है। अभी-अभी पत्नी को बिदा देकर हरिश्चन्द्र अपने विदीर्ण हृदय को सँभाल भी नहीं पाये थे कि रङ्गमञ्च के एक कक्ष से अचानक रक्तनेत्र विश्वामित्र प्रकट हो गये, मानो करुण पर रौद्र का आक्रमण हो गया। इस व्यञ्जना से परिस्थिति कुछ क्षण के लिए करुणतम हो गई है। इसी प्रकार इन पक्तियों में भी—

'याहि बिटप मैं लाइ गरें फाँसी मरि जैहैं।
कै पाथर उर धारि धार मैं धाइ समैहैं॥'
यौं कहि उठि अकुलाइ चल्यो धावन ज्यौं रानी।
त्यौं स्वर करि गंभीर धीर बोले नृप बानी॥
'बेचि देह दासी ह्वै तब तौ धर्म्म सम्हारयौ।
अब अधरम क्यों करति कहा यह हृदय बिचारयौ॥'

इस प्रकार के द्वन्द्वात्मक दृश्व (जिनसे चिरपरिचित कथा में भी कवि की अपनी एक मनोवैज्ञानिक कला प्रकट होती है) इस काव्य में विशेष नहीं।

श्मशान में मृतपुत्र को देखकर हरिश्चन्द्र ने जो विलाप किया है, उसमें एक ही वाक्य-खंड मर्म्मस्पर्शी है—

हाय वत्स! कि न सुनि पुकारि मैया की जागत।
अरे मरे हू पै तुम तौ अति सुंदर लागत॥

यह प्रसङ्ग ऐसा था कि, यहाँ रत्नाकरजी को एक करुणा की मन्दाकिनी बहा देने का सुयोग प्राप्त था, किन्तु 'हरिश्चन्द्र' काव्य में कथाकार प्रधान और कवि गौण होने के कारण वे मार्म्मिक स्थलों को चलता-भर कर गये हैं। इसी लिए श्मशान में शैव्या से हरिश्चन्द्र द्वारा कफन माँगते समय भी रत्नाकरजी मर्म्मभेदी नहीं हो सके। उससे बढ़कर दयनीय प्रसङ्ग करुणा के लिए और क्या हो सकता था! करुणा की अपेक्षा स्थिति की भयानकता को प्रत्यक्ष करने में ही रत्नाकर जी अधिक सफल हुए हैं। श्मशान का वर्णन इसका एक उदाहरण है। कहा जा चुका है कि परुष भाव ही उनसे खूब बन पाता है। अपने मनोवाञ्छित रस का एक सीधा प्रवाह वे बहा सकते हैं, किन्तु उस रस-प्रवाह में छोटी-मोटी अनेक नाटकीय भङ्गिमाएँ न उठा सकने के कारण प्रबन्ध-काव्य (या पद्यप्रबन्ध ?) के ढाँचे में उनके कवित्व का एक मुक्तक आस्वाद ही प्राप्त होता है।

'हरिश्चन्द्र' के बाद 'कलकाशी' रत्नाकरजी का निबन्धकाव्य है। यह विवरणात्मक है, वर्णनात्मक नहीं। इसमें एक युग की काशी का ऊपरी ढाँचा देखा जा सकता है, किन्तु काशी का अन्तःकरण नहीं। काशी की वस्तुओं, मनुष्यों और कोविदों की इसमें एक खासी लिस्ट है, जो किसी पर्य्यटक के लिए कौतूहलपूर्ण हो सकती है, किन्तु किसी भावुक के लिए रसात्मक नहीं। इससे रत्नाकरजी की जानकारी का पता चलता है, विदग्धता का नहीं।

ज्ञातव्य विवरण और रसात्मक वर्णन का अन्तर नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—

आँगन-बीच नगीच कूप के मन्दिर राजत।
जापै चढ़यौ निसान सान सौं फबि छबि छाजत॥

—'कलकाशी'

देख लो साकेत नगरी है यही—
स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही!
केतु-पट अञ्चल-सदृश हैं उड़ रहे
कोटि कलशों पर अमर दृग जुड़ रहे!

—'साकेत'

प्रथम उद्धरण में किसी नक़्शे का एक कोना दिखाई पड़ता है, दूसरे उद्धरण में हृदय फ़ौवारे की तरह उत्सित हो उठा है। एक में भावाभिव्यक्ति शून्य है, दूसरे में इसके लिए भाषा और छन्द भाव-विभोर हैं। एक में भाषा और पद-विन्यास है तो दूसरे में एक नाटकीय फड़क भी, जिससे चित्र में सजीवता आ गई है।

'कलकाशी' रत्नाकरजी की अपूर्ण कृति है। ज्ञात नहीं, वे आगे इसे क्या रूप देते। परन्तु 'हरिश्चन्द्र' और 'गङ्गावतरण' से अनुमान किया जा सकता है कि कवि इसे किस ढंग पर ले जाता; क्योंकि इन तीनों का पद-विन्यास और शैली एक-सी है।

'कलकाशी' के बाद 'उद्धवशतक' रत्नाकरजी का निबन्ध-काव्य है। निबन्ध-काव्य और प्रबन्ध-काव्य में कुछ अन्तर है।

निबन्ध-काव्य में मुक्तक भावों की एक सुसंगत शृंखला रहती है, किंवा वह कथा-परक ही नहीं, भाव-परक भी हो सकता है।

प्रबन्ध-काव्य प्रधानतः कथा-परक रहता है, उसमें किसी समाज और चरित्र की अवतारणा रहती है, यथा, 'साकेत' और 'प्रियप्रवास'। निबन्ध-काव्य में जिस रस की सृष्टि करना कवि को भाव के आश्रय से अभीष्ट रहता है, उसे प्रबन्ध-कवि कथा द्वारा अभिव्यक्त करता है। इस दृष्टि से रत्नाकर के 'हरिश्चन्द्र', अंशतः 'कलकाशी' और 'गङ्गावतरण' प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत आते हैं; 'हिंडोला' और 'उद्धवशतक' निबन्ध-काव्य के अन्तर्गत। अपने निबन्ध-काव्यों में रत्नाकरजी अपेक्षाकृत मधुर मनोहर हैं। प्रबन्ध-काव्य उनका उतना सफल क्षेत्र नहीं।

यह कहा जा चुका है कि, रत्नाकरजी की करुणा और शृङ्गार भी पौरुषेय है। फिर भी कोमल रसों में शृङ्गार रस उनकी लेखनी से सरस हो सका है, कारण, शृङ्गार रस की प्रशस्त भूमि वे अतीत की परम्परा से पर्य्याप्त सीमा में पा चुके हैं; उस परम्परा में शृङ्गार रस इतना सम्मान्य है कि उसे रसराज कहा गया है और वह काव्य का पर्य्यायवाची-सा हो गया है।

'उद्धवशतक' में रत्नाकरजी सूर की भाँति ही ज्ञानपक्ष और भावपक्ष, दोनों लेकर चले हैं। सूर की पहुँच दोनों ही ओर एक समान है, क्योंकि वे कवि ही नहीं, बल्कि साधक भी थे; अतएव वे दोनों ही ओर कवित्व ढुलका सके हैं, जब कि रत्नाकर केवल

भाव-पक्ष में ही। ज्ञान-पक्ष में वे कोई अनूठापन नहीं ला सके, उनके लिए उसमें गुंजाइश भी नहीं थी; सूर ने आत्मानुभूति से ही बहुत कुछ कह दिया था। शृङ्गार की रसिकता सब के लिए संभव है, उसमें अपनी-अपनी रसानुभूति में प्रत्येक व्यक्ति नवीन हो सकता है; किन्तु ज्ञान-पक्ष की साधना किन्हीं विशिष्ट पुरुषों की आत्मानुभूति पर ही निर्भर है। 'उद्धवशतक' में रत्नाकरजी के लिए जो सहज-संभव था उसी शृङ्गार रस में वे सफलता-पूर्वक पगे हैं। 'उद्धवशतक' के भाव-पक्ष में रत्नाकरजी की मस्ती और प्रेम की झड़ी देखते ही बनती है। यह एक व्यञ्जनात्मक काव्य है, अतएव निरे वर्णनात्मक काव्यों से अधिक सरस है।

'उद्धवशतक' का प्रारम्भ (पटोद्घाटन) तो बहुत ही सुन्दर ढंग से हुआ है—

न्हात जमुना मैं जलजात एक देख्यौ जात
जाको अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।
कहै 'रतनाकर' उमहि गहि स्याम ताहि
बास-बासना सौं नैंकु नासिका लगायौ है॥
त्यौं ही कछु घूमि झूमि बेसुध भए कै हाय
पाय परे उखरि अभाय मुख छायौ है।
पाए घरीक द्वैक मैं जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर
राधा-नाम कीर जब औचक सुनायौ है॥

इस एक लाक्षणिक रूपक में सम्पूर्ण 'उद्धवशतक' अपनी मुख्य यवनिका बन गया है।

शरत्साहित्य का औपन्यासिक स्तर

[१]

आधुनिक भारतीय साहित्य का इतिहास उन्नीसवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। नये युग की दीपावली को सजाने के लिए मध्ययुग के भारत की सफ़ाई हो रही थी। फिर भी, मध्ययुग का कुछ अन्धकार और प्रकाश आधुनिक युग के अन्धकार और प्रकाश में मिल गया। फलतः आज भी मध्ययुग की सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ एक तमाच्छन्न प्रश्न बनकर आईं। मध्ययुग का साहित्य भी अपने समय का मानसिक आलोक होकर विकीर्ण होता आया। मध्ययुग का शेष अन्धकार और प्रकाश राजनीतिक आवरण में धार्म्मिक था, आधुनिक युग में उसने वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी प्राप्त किया। वैज्ञानिक जीवन ने हमारे जीवन में जो चहल-पहल उत्पन्न की, उसने अति लौकिकता (घोर वास्तविकता) जगा दी, उसने जीवन को काव्य से गद्य में परिणत कर दिया। फलत: मध्ययुग और आधुनिक युग के संयोग से हमारे साहित्य और समाज ने एक मिश्र-रूप धारण कर लिया। इस मिश्रित युग का समाज हमारे काव्यों और उपन्यासों में प्रकट हुआ। जिन लोगों ने आधुनिक युग से तृप्ति

न ग्रहण कर मध्ययुग से ही जीवन का रस लिया, उन्होंने अपने काव्यों और उपन्यासों में मध्यकालीन साहित्य को ही बनाये रखा। प्रेम और भक्ति की कविताएँ, धार्म्मिक और ऐतिहासिक कथाएँ तथा सहस्र-रजनी-चरित्र और तिलस्मी उपन्यास इसके द्योतक हैं। किन्तु जिन्होंने मध्यकाल के साहित्य के साथ ही आधुनिक युग की विचार-स्वतन्त्रता भी ली, उनकी कृति का एक उदाहरण है माइकेल मधुसूदन का 'मेघनाद-वध'। इसके अतिरिक्त, जिन लोगों ने आधुनिक युग का निमन्त्रण स्वीकार कर साहित्य-कला का प्रकाशन तो नये युग से लिया, किन्तु जातीय संस्कृति मध्यकालीन बनाये रखी, उनमें बंकिम, रवीन्द्र, शरद, प्रसाद, प्रेमचन्द, मैथिलीशरण उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्द इस अर्थ में कि उन्होंने मध्यकाल का हिन्दू-मुस्लिम-मय भारत लिया।

जिन्होंने आधुनिक युग का आरम्भिक स्वागत केवल उसकी लोक-पटुता के औपन्यासिक कौतूहल के वशीभूत होकर किया, उन्होंने जासूसी उपन्यासों को अग्रसर किया। मध्यकालीन जीवन का वैचित्र्य तो केवल उसके इतिहास और किंवदन्तियों में है, किन्तु आधुनिक जीवन का वैचित्र्य (वह कितना लीलामय हो गया है!) केवल इतिहास में नहीं, जासूसी उपन्यासों में भी है। जासूसी उपन्यासों का सृजन, मध्यकालीन रुचि से बहिर्भूत होने के लिए नहीं, बल्कि उसी समय की एक रुचि का अप-टू-डेट रूप उपस्थित करने के लिए हुआ। प्राचीन समय से बच्चों

और साधारण जनता में अनेक दन्तकथाओं और परियों की कहानियों के रूप में जो आश्चर्य-चकित चाह चली आ रही थी, वह समाज के गद्य-मय जीवन में एक स्वप्न-विश्राम थी। विचित्रता की उसी चाह ने ऐयारी और तिलस्मी उपन्यासों में एक सयाना रूप पाया था, इसके बाद उसी चाह ने जासूसी उपन्यासों में अपना स्थान बनाया। इस प्रकार कविता के मानसिक जगत् (स्वप्न) से उतरकर गद्य-जीवन ने गद्य में ही विश्राम लेने का अभ्यास पाया। विश्राम और विनोद के अतिरिक्त, जब मनुष्य ने अपने जीवन की कुरूपताओं को भी देखने का अवकाश निकाला तब उसे उसी के जीवन के भीतर से सामाजिक चित्र भी प्राप्त हुए। शरद के उपन्यास भी वही चित्र हैं।

हाँ, तो मध्ययुग की शेष सामाजिक और राजनीतिक समस्यायें आधुनिक युग की दीपावली में भी अमावास्या का निविड़ प्रश्न बनकर आईं। यथा—हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न, अनेक सामाजिक सुधार, देशी रियासतों का सवाल, इत्यादि। यह वे प्रश्न हैं, जिन पर गान्धी-युग आने के पूर्व तक वर्तमान शासन-तंत्र की निरपेक्ष दृष्टि रही। सदियों से निपीड़ित हिन्दू-समाज भी आत्मरक्षा के लिए इस आधुनिक युग में चैतन्य हुआ। बङ्गाल जब विजातियों-द्वारा नारी-निर्यातन और पाश्चात्य सभ्यता के प्रसरण की रङ्गभूमि बन चला तब ऐसे समय में बङ्किम ने अपने उपन्यासों तथा विविध कृतियों द्वारा हिन्दू जीवन तथा पाश्चात्य सभ्यता

के प्रवाह में बहते हुए भारतीयों की संस्कृति-रक्षा का मंत्र फूँका। इसके बाद रवीन्द्रनाथ ने हमारे गार्हस्थिक जीवन के भीतर काव्य की तरह प्रवाहशील रोमान्स और ट्रेजडी को लेकर उपन्यास लिखा। बङ्किम के बाद जो धार्मिक और राष्ट्रीय हलचलें उत्पन्न हुईं, उनपर भी अपने 'घरे-बाहिरे' और 'गौरमोहन' नामक उपन्यासों तथा अन्य कृतियों द्वारा उन्होंने प्रकाश डाला। रवीन्द्रनाथ बाह्यतः ब्राह्मसमाजी होते हुए भी अन्ततः वैष्णव संस्कृति की मधुरता के उपासक हैं। जिस प्रकार रवि बाबू ने शान्तिनिकेतन में भारतीय कलाओं को आधुनिक रूप दे दिया है, उसी प्रकार अपने साहित्य में वैष्णवता को भी। उनके साहित्य में आद्यन्त जो सुर बज रहा है, वह वैष्णवीय ही है। स्वयं उनकी प्रतिभा ही राधा है, वैसी ही आशा, उत्कण्ठा, सौन्दर्य्याकुलता और भगवद्भक्ति लिये हुए, मानो कहती है—'तोमार मधुर प्रीति बहे शतधार।'

रवीन्द्र के बहुत बाद बङ्गाल के उपन्यास-साहित्य में शरच्चन्द्र का उदय हुआ। प्रतिभा के अधिष्ठान की दृष्टि से रवीन्द्र और शरद में उतना ही अन्तर है, जितना प्रसाद और प्रेमचन्द में। जहाँ रवीन्द्र की प्रतिभा बहुमुखी है, वहाँ शरद नहीं हैं; और जहाँ शरद की प्रतिभा एकच्छत्र है, वहाँ रवीन्द्र नहीं हैं। संस्कृति की दृष्टि से शरद में बङ्किम और रवीन्द्र के दृष्टिकोणों का एकीकरण है। बङ्किम की भाँति हिन्दू-धर्म के प्रति अनन्य

अनुराग रखते हुए शरद, रवीन्द्र की आध्यात्मिक सार्वभौमिकता के पुजारी हैं। इसी लिए जहाँ अपने उपन्यासों में शरद आध्यात्मिक भावों को प्रकट करते हैं, वहाँ वे मानो रवीन्द्र के कवित्व को ही प्रस्फुटित करते हैं।

निदान, बंकिम ने हिन्दू-जीवन को जगाया, रवीन्द्र ने उस जीवन के काव्य-रस को, शरद ने उस जीवन की गार्हस्थिक समस्या को। बंकिम के प्रच्छन्न लक्ष्य को शरद ने प्रत्यक्ष किया। यहीं एक और बात भी स्पष्ट हो जाय। शरद के पूर्व के उपन्यास-साहित्य में राजा-रईस, प्रेमी-प्रेमिका, समाज और शासन था। किन्तु उपेक्षितों और कलंकितों के लिए कोई सहृदय-मनोविज्ञान नहीं था। शरद ने अपने साहित्य में इसी को प्रधान बनाकर दिया। शरद के लिए चरित्र का माप छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब या जस-अपजस में नहीं है, बल्कि अन्तरात्मा में विद्यमान 'मानव' में है। यदि वहाँ 'दानव' नहीं है तो वह शरद से अभ्यर्थित है, चाहे ग़रीब हो या धनी। उनके लिए 'मनुष्य' पोशाक या वेशभूषा अथवा सम्पन्नता और निर्धनता में नहीं है, बल्कि अपने निगूढ़तम प्रदेश में है। वहाँ मानवता-रहित वस्त्राच्छादित-मनुष्य शरद की दृष्टि में कफ़न में लिपटा हुआ जीवित जघन्य शव हो सकता है।

[२]

शरद बाबू की सम्पूर्ण कथा-कृतियों की कुञ्जी 'श्रीकान्त' है, जैसे रवीन्द्रनाथ की औपन्यासिक कृतियों में 'गोरमोहन'। ये

दोनों ही उपन्यास अपने-अपने विचारों के अमर हैं। शरद की सम्पूर्ण विचार-धाराएँ और सम्पूर्ण पात्र-पात्रियाँ 'श्रीकान्त' में ही हैं। इसी उपन्यास के दृष्टिकोणों और इसी उपन्यास की पात्र-पात्रियों ने विविध कृतियों में विविध रूप पाया है। इसे देखने से ज्ञात होता है कि इस उपन्यास को लिखते समय वे उस साहित्यिक युग में खड़े थे, जिसमें सनसनीदार बातों के बिना उपन्यास, उपन्यास ही नहीं समझे जाते थे। फलतः इस उपन्यास का प्रारम्भ उन्होंने रोमाञ्चकर घटनाओं से किया है। प्रारम्भ से ही एक-पर-एक विकट घटनाओं का घटाटोप है। वज्रवत् विकराल घटनाचक्र को लेकर यह उपन्यास अग्रसर हुआ है। प्रथम परिच्छेद में ही इतनी आकस्मिक घटनाएँ हैं कि द्रुतगति से बदलते हुए विद्युत्पट की तरह हमें चकित कर जाती हैं। यद्यपि प्रथम परिच्छेद के बाद उपन्यास अपेक्षाकृत शिथिल गति से चला है, इस उपन्यास की भग्न स्मृतियों की तरह ही; तथापि शरद इस विशेषता के सूत्रधार हैं कि हैरत-अंगेज उपन्यासों के प्रवृत्तिकाल में उन्होंने प्रत्यक्ष जीवन के रोमाञ्चकर पक्ष को उपस्थित कर पाठकों की रुचि को 'श्रीकान्त' द्वारा ठोस बनाया।

'श्रीकान्त' में समाज और स्वदेश की उन सभी समस्याओं, आवश्यकताओं और राष्ट्रीय दृष्टिकोणों का समावेश है, जिन्हें हम आज बापू के रचनात्मक कार्यों में प्रत्यक्ष देखते हैं, यथा—ग्रामोद्धार, अछूतोद्धार, वेश्याओं के प्रति सहानुभूति, स्वाधीनता

की आकांक्षा, सांस्कृतिक चिन्तना, इत्यादि। ये वे राष्ट्रीय उपदान हैं, जिन्हें स्वदेशी-आन्दोलन की जागृति में बंगाल ने पाया था और जो आज बापू के सुसंगठन में अखिलभारतीय हो गये।

'श्रीकान्त' का मूल बँगला नाम है—'श्रीकान्तेर भ्रमण-काहिनी।' इस नाम से ही इस उपन्यास का एक नक़्शा खिंच जाता है। भ्रमण-वृत्तान्त के रूप में यह एक विशिष्ट-पात्र की आत्म-कथा है, ऐसे पात्र की, कि जिसने किशोर-वय से ही कठिन दुस्साहस का कवच पहनकर जीवन के साथ खेल खेला है। 'राबिन्सन क्रूसो' जिस कौतूहलाक्रान्त मनोवृत्ति के वशीभूत होकर किशोरवय से ही भ्रमणशील हो गया था, वही प्रवृत्ति 'श्रीकान्त' में भी है। किन्तु राबिन्सन क्रूसो का भ्रमण-क्षेत्र श्रीकान्त से भिन्न है। राबिन्सन क्रूसो ने जङ्गल में मङ्गल मनाया था एवं अपने बौद्धिक चमत्कार से घूम-फिरकर उसने पुनः उसी समाज में विश्राम लिया, जहाँ से वह चला था। वह तो एक सैलानी था, उसके भीतर भौगोलिक नवीनता की प्यास थी; फलतः पर्वतों ने, समुद्रों ने, अरण्यों ने उसकी शक्ति और साहस की आज़माइश की। किंतु श्रीकान्त सैलानी नहीं है, वह तो एक पथिक है—जीवन की राह का पथिक। बढ़ी हुई नदी, भयानक श्मशान, सघन अन्धकार एवं रोग, शोक, अत्याचार, प्रतीकार, ये सब उस जीवन-यात्री की सुरङ्ग की दीवारें और छत हैं। इनके भीतर वह सामाजिक धरातल पर भ्रमण कर रहा है।

उसे राह में विभिन्न सहचर मिलते जा रहे हैं, सब के सुख-दुख की कहानियाँ उसके जीवन के सूत्र में गुँथती जा रही हैं। उन्हीं अनेक छोटी-बड़ी कहानियों का यह हार है। अनेक मानवी संवेदनों की सूची से यह हार गुम्फित है, इसमें इतनी पीड़ा, इतनी कसक है कि हृदय सिहर उठता है, प्राण करुणार्द्र हो जाते हैं। आज की मिथ्या सामाजिक गुरुता और उसके पाँवोंतले कुचले हुए कुसुम-कोमल हृदयों की विचूर्णित मनुष्यता का यह उपन्यास बहीखाता है। शरद बाबू ने इसे जिस स्याही से लिखा है, उसमें अनेक रसों का मिश्रण है—रौद्र, भयानक, हास्य, श्रृङ्गार, करुण।

शरद के विदग्ध प्राणों ने देखा कि हमारे सामाजिक जीवन म क्या कम सनसनी है! यहाँ जो है वह केवल समाचार-पत्रों के तात्कालिक आकर्षण की चीज़ नहीं, बल्कि चिरन्तन मनुष्य की चिरन्तन समीक्षा और सहृदयता की वस्तु है। उसी प्रत्यक्ष सामाजिक जीवन को लेकर शरद ने धार्म्मिक (नैतिक) भारत को तथा प्रेमचन्द ने आर्थिक (राजनैतिक) भारत को अपने उपन्यासों में दिखलाया। शरद की समस्या सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न होती है, प्रेमचन्द की आर्थिक परिस्थितियों से; इसी लिए जब कि शरद का दृष्टिकोण सांस्कृतिक है, प्रेमचन्द का विशेषतः राष्ट्रीय। भारत का सामयिक राष्ट्रीय इतिहास प्रेमचन्द में है, भारत का सामाजिक विश्वास शरद में। साहित्य में भारत के बाह्य (राष्ट्रीय) शरीर प्रेमचन्द, अंतः-

शरीर (सामाजिक) शरच्चन्द्र हैं। दोनों को मिलाकर हम साहित्य में गान्धी के भारत (सांस्कृतिक राष्ट्र) का दर्शन पा सकते हैं।

रवीन्द्रनाथ ने प्रेम और भक्ति की कविताओं से तथा शरद ने धार्मिक कथाओं से निर्म्मित भारत को प्रस्फुटित किया। प्रेमचन्द की भाँति शरद ने भी उस ठेठ (ग्रामीण) भूमि को प्राणान्वित किया, जहाँ भारत का हृदय है; इस स्वाभाविकता से कि मानों स्वयं भुक्तभोगी हों। प्रेमचन्द की इकाई यू० पी० का देहाती समाज है, शरद की इकाई बंगाल का देहाती समाज। यू० पी० और बंगाल की भाषा में जितना अन्तर है, उतना ही प्रेमचन्द और शरद की कला के व्यक्तित्व में भी। शरद और प्रेमचन्द के कला-सौन्दर्य में बँगला और खड़ी बोली का अन्तर है। शरद का बँगला व्यक्तित्व न तो व्रजभाषा की भाँति एकदम क्लासिकल है, न खड़ी बोली की भाँति एकदम आधुनिक, उसमें दोनों के बीच का व्यक्तित्व है—एक मधुर ओज। स्वभावतः शरद की कला में वंगीय सरसता अधिक है, जो कि उन्हें पूर्ववर्त्ती महान् साहित्यिकों से उत्तराधिकार में प्राप्त है, जब कि प्रेमचन्द को अपनी दिशा में कोई उत्तराधिकार हिन्दी से नहीं प्राप्त हुआ। प्रेमचन्द की कथा में उनके विचारों के कारण पाठकों को प्रवाह के बीच-बीच में रुकना भी पड़ता है, मानो प्रेमचन्द में एकाएक उत्पन्न हिन्दी की नवीन औपन्यासिक कला अपना पथ-सन्धान

कर रही हो। किन्तु शरद की कथा बिना किसी रुकावट के बड़ी सहज गति से बहती चली जाती है, मानो उसका क्षेत्र पूर्वप्रस्तुत हो। यह तो स्पष्ट ही है कि प्रेमचन्द की कला में नवीन औपन्यासिक सूत्रपात देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी के बाद होता है, जब कि शरद के पूर्व बंकिम और रवीन्द्र ने उपन्यासों को आधुनिक बैकग्राउंड दे दिया था।

हाँ, प्रेमचन्द का लक्ष्य जब कि विचारोद्रेक रहता है, शरद का लक्ष्य रसोद्रेक। एक मस्तिष्क को जगाता है, दूसरा हृदय को। हमारे यहाँ एक खास औपन्यासिक दिशा (क़िस्से-कहानियों और तिलस्मी उपन्यासों) में रसोद्रेक काफ़ी हो चुका था, किन्तु समाज का विवेक सोया ही हुआ था; प्रेमचन्द का साहित्य विचार-प्रधान होकर उसी विवेक को जगाने का आरम्भिक प्रयत्न है। आज जब कि सार्वजनिक जागृति द्वारा सामाजिक विवेक बहुत कुछ जग चुका है, उसके भीतर नवीन रसोद्रेक की भी आवश्यकता है, हृदय को कुरेद देने की ज़रूरत है। इस दिशा में शरद की कला एक आदर्श है। शरद और प्रेमचन्द, दोनों ही ठेठ-नागरिक कलाकार थे। नागरिक थे, इसलिए कला में आधुनिक हैं; ठेठ थे, इसलिए उनमें भारतीय हृदय की स्वाभाविकता है।

प्रेमचन्द के साहित्य में अधिकांशतः मनोविज्ञान की एक सीधी और ऊँची लहर उठती-गिरती है, इसी प्रकार उनके

चरित्रों में भी एक सीधा उत्थान-पतन है। किन्तु हमारे जीवन में उत्थान-पतन के अतिरिक्त बीच में कुछ और भी है। उत्थान-पतन ही जीवन नहीं है, इनके बीच में जीवन एक भूलभुलैया भी है। यही भूलभुलैया शरद के 'देवदास', 'चरित्र-हीन' और 'श्रीकान्त' में है; उनमें मनोविज्ञान की तरंगें, सीधे ऊपर-नीचे उठती-गिरती ही नहीं, बल्कि बीच में मूर्च्छना भी लेती हैं; मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं के प्रति एक जिज्ञासा जगा जाती हैं।

प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र दोनों ही उपेक्षितों के लिए सहानुभूतिशील हैं, किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि प्रेमचन्द पतित को उस उत्थान तक ले जाते हैं, जहाँ पहुँचकर वह नीतिनिष्ठ बन जाय; इधर शरच्चन्द्र चरित्र को उस मूर्च्छना में उपस्थित करते हैं, जिसके लिए समाज में कोई उपचार नहीं है। यदि उपचार होता तो वे चरित्र सुखी होकर इसी समाज को स्वर्ग बना देते। अन्ततः प्रेमचन्द के चरित्र का उत्तरदायित्व व्यक्ति के ही ऊपर रहता है, शरद के चरित्र का उत्तरदायित्व समाज के ऊपर। इसीलिए प्रेमचन्द के चरित्र समाज के सुझाये हुए चिर-अभ्यस्त आदर्शों में एक नेकनाम होकर चलना चाहते हैं, किन्तु शरद के चरित्र समाज की विकृतियों में बदनाम होकर उसके रूढ़ छद्मावरण का पर्दाफ़ाश करते हैं।

शरद ने जिस समय अपने उपन्यासों का प्रारम्भ किया, उस समय तक समाज का प्रश्न राष्ट्रीय बनकर नहीं आया था।

राष्ट्रीय पैमाने पर वह गांधी-युग में आया। इससे पूर्व समाज का प्रश्न नैतिक ही बना हुआ था। हाँ, देश राजनीतिक सुधारों के लिए लड़ रहा था, किन्तु सामाजिक सुधारों का कार्य सामाजिक पैमाने पर ही हो रहा था। दयानन्द (आर्यसमाज) और केशवचन्द्र सेन (ब्राह्मसमाज) ने एक सामाजिक जागृति उत्पन्न कर दी थी। अपने यहाँ प्रेमचन्द इस नवीन जागृति की ओर बढ़े, फलत: 'सेवा-सदन' में हम उनकी आर्यसमाजी चेतना पाते हैं। उनकी इसी नवोन्मुख सामाजिक प्रगति ने आगे चलकर उन्हें राष्ट्रीय बना दिया, जहाँ हिन्दू-समाज के बजाय राष्ट्रीय समाज उनके सामने आया। इस प्रकार नैतिक और राजनैतिक क्षेत्र के वे लेखक रहे। यहाँ प्रेमचन्द का दृष्टिकोण राष्ट्रीय तो बना, किन्तु नैतिक दृष्टिकोण परम्पराबद्ध है। इधर शरद का गार्हस्थिक आदर्श तो हिन्दू संस्कृति से ओत-प्रोत है किन्तु नैतिक दृष्टिकोण परम्पराबद्ध न रहकर नवीन मनोवैज्ञानिक समस्याएँ उपस्थित करता है। शरद ने गार्हस्थिक जीवन के पौराणिक मूलाधार को बनाये रखकर उसकी विकृति के सुधार का संकेत दिया। लकीर के फ़क़ीर वे नहीं थे, किन्तु भारतीय गार्हस्थिक जीवन के अवशिष्ट शुभ चिह्नों को मिटाकर वे कोई ऐसी नई लकीर भी नहीं खींचना चाहते थे जिससे जीवन का प्रिय सञ्चय खो जाय।

शरच्चन्द्र नीति और राजनीति को लेकर नहीं, बल्कि उस सामाजिक अनीति के प्रति असन्तोष लेकर चले जिसके कारण

चिर सुन्दर गार्हस्थिक जीवन विलीन हो रहा है। शरद मध्यकालीन हिन्दू-गृहस्थों के उपन्यासकार हैं, उनके अभाव-अभियोग, सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा, आचार-विचार और क्षमता-विवशता की मुक्तवाणी हैं। वे उनकी सतह पर आकर ही उन्हें उठाना चाहते हैं। शरद की सांस्कृतिकता एकजातीय अवश्य है, किन्तु उनकी मनोवैज्ञानिकता विश्वजनीन है। जिस प्रकार वे मुख्यतः निकृष्टतम 'कलंकितों' के 'शरच्चन्द्र' हैं, उसी प्रकार साधारणतम गृहस्थों के आवेदन-क्रन्दन। वे चिरवैष्णव हैं। तत्कालीन (ब्राह्मसमाजी) सामाजिक चेतना में उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया कि उस जागृति से रूढ़िवादी समाज विवेकशील बने, किन्तु नूतनता के आवेग में अपना चिरसञ्चित सामाजिक सौन्दर्य (सांस्कृतिक घरेलूपन) न खो दे। शरद जिन चरित्रों के लिए समाज में सहानुभूति और स्थान चाहते हैं, उनका समाज से पृथक् निर्वासित उपनिवेश नहीं बनाना चाहते। विभाजन नहीं, संयोजन चाहते हैं; प्राचीन संकृस्ति के सुरक्षण के अर्थ उसका नवीन आयोजन चाहते हैं। उन्होंने दिखाया है कि समाज में जो विकार आ गया है, वह हमारी संस्कृति की विकृति नहीं, बल्कि विवेक-हीनता (रूढ़िपरता) की विकृति है। इसके लिए समाज-संस्कार की आवश्यकता है, न कि संस्कृति से निष्कृति की। संस्कृति मनोविज्ञान से प्रादुर्भूत है। समाज का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण जब से सो गया, तभी से उसमें

प्रकाश (विवेक) के बजाय अन्धकार आ गया। धर्मान्ध समाज के भीतर उसी प्रसुप्त मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को जगाने की आवश्यकता है, ताकि नई परिस्थितियों के लिए वह इतना विस्तीर्ण हो कि उसके उत्पीड़ित बहिष्कृत चरित्र भी उसमें जीवन पा जायँ। 'श्रीकान्त' में अभया कहती है—'संसार के सभी स्त्री-पुरुष एक साँचे में ढले नहीं होते, उनके सार्थक होने का रास्ता भी जीवन में केवल एक नहीं होता। उनकी शिक्षा, उनकी प्रवृत्ति और मन की गति एक ही दिशा में चलकर उन्हें सफल नहीं बना सकती। इसी लिए समाज में उनकी व्यवस्था रहना उचित है।'

[३]

शरद पूर्ण पौराणिक आदर्शवादी हैं। 'चरित्र-हीन' की सुरबाला, 'पण्डितजी' की कुंज, 'श्रीकान्त' की राजलक्ष्मी, मानो शरद की ही वैष्णवी आत्माएँ हैं। किन्तु उनकी पौराणिकता में एक सरल आधुनिकता है, जो ज्ञानान्ध-वैज्ञानिकता से भिन्न है। हिन्दू-धर्म के साधना-पूत स्वरूप पर उनकी चिर-श्रद्धा है। इस विषय में वे विश्वासपरायण निश्छल गृहस्थों-जैसे हैं। किन्तु इसके आगे शरद एक आधुनिक द्रष्टा भी हैं; धर्म के रथ को वे देशकाल के पथों की सूचना भी देते हैं। इसी लिए शरद की वैष्णवता कट्टर सनातनियों की भाँति संकीर्ण नहीं। उनकी वैष्णवता को हम गांधी-टाइप की वैष्णवता कह सकते हैं, जो

प्राचीन आचार-विचारों के स्वच्छ रूप को पसन्द करती है, धार्मिक दम्भ हटाकर। हाँ, तो शरद भी वैष्णव हैं, महात्मा भी वैष्णव हैं; किन्तु महात्मा और शरद की वैष्णवता में नीतिवान् और कलाकार का अन्तर भी है। कला के क्षेत्र में प्रेमचन्द महात्मा के नैतिक अनुयायी थे; शरद, रवीन्द्र के साहित्यिक अनुगामी। कलाकार के स्थान से रवीन्द्रनाथ अपने काव्यों में जितने वैष्णव हैं, उतना ही शरद अपने उपन्यासों में। हाँ, रवीन्द्र की वैष्णवता निर्गुणवत् प्रच्छन्न है, शरद की सगुणवत् प्रत्यक्ष।

महात्मा के लिए निग्रह ही सब कुछ है, किन्तु कलाकार शरद मानव-चरित्र को निवृत्तिमूलक दृष्टिकोण से ही नहीं देखते, बल्कि उनके चरित्रों में प्रवृत्तियों का वैचित्र्य भी है। महात्मा की उदारता यह है कि पतितों के लिए उन सभी असुविधाओं को, जो किसी न किसी सामाजिक या राजनीतिक कारण से हैं (क्योंकि आज बेकारी का कारण जैसे वैयक्तिक नहीं, सार्वजनिक है; उसी प्रकार चरित्र-हीनता का सार्वजनिक कारण भी संभव है), महात्मा अपने रचनात्मक कार्य्यों द्वारा दूर करने को तैयार हैं। शरद का भार यहीं हलका हो जाता है, इसी सदुद्देश्य के लिए वे चरित्र-चित्रण करते चले आ रहे हैं। शरद यही चाहते थे कि तिरस्कृतों के लिए भी क्षेत्र (समाज में रहने का ठौर-ठिकाना) मिले, बिना इसके उनकी आलोचना करना विडम्बना है। इसी लिए शरद उनकी

आलोचना नहीं, बल्कि उनके लिए सहानुभूति उत्पन्न करने में लगे हुए थे। एक बात और। पतितों (चरित्र-स्खलितों) का प्रश्न केवल सामाजिक नहीं, मानसिक भी है। समाज में स्थान पा जाने पर भी पतितों में स्खलन संभव है, क्योंकि वे यन्त्र नहीं, मनुष्य हैं। समाज का आदर्श उन्हें दुतकारे नहीं, अपनी सहानुभूति से ही उनमें परिवर्त्तन करे, यह शरद की टेक है। 'श्रीकान्त' में एक स्थान पर वे कहते हैं—"एक आदमी दूसरे के मन की बात को यदि जान सकता है तो केवल सहानुभूति और प्यार से; उम्र और बुद्धि से नहीं। संसार में जिसने जितना प्यार किया है, दूसरे के मन की भाषा उसके आगे उतनी ही व्यक्त हो उठी है। यह अत्यन्त कठिन अन्तर्दृष्टि सिर्फ प्रेम के ज़ोर से ही प्राप्त की जा सकती है, और किसी तरह नहीं।"—यही शरद की औपन्यासिक परिणतियां (चारित्रिक सन्धियां) का मनोवैज्ञानिक पहलू है, जो उलझनों को अकस्मात् सुलझा देता है और पाठकों के मन में, समझने के लिए एक सूक्ष्म 'अंडर लाइन' छोड़ जाता है। महात्मा की भाँति शरद भी आक्रोश के नहीं, प्रेम के प्रार्थी हैं। किन्तु दोनों के दृष्टिकोणों में एक अन्तर भी है। महात्मा आदर्श को कूत-कर (सब मिलाकर) देखते हैं। शरद, कलाकार के नाते अलग-अलग उसकी बारीक तहों, सूक्ष्मतम मनोवैज्ञानिक पहलुओं को रखते हैं। महात्मा की भाँति वे चरित्रों को केवल

नैतिक मापदण्ड से ही नहीं, बल्कि मनोवैज्ञानिक-कन्सेशन देकर देखते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य, संगमर्मर का देवता ही नहीं है, हाड़-मांस का हृत्पिण्ड भी है; उसमें निवृत्ति ही नहीं प्रवृत्ति भी है। यह प्रवृत्ति पाशविक नहीं, मानव-आकांक्षाओं के नैसर्गिक कवित्व से प्रसूत है। बापू जिस आदर्श को कूतकर देखते हैं, उस आदर्श तक पहुँचना हमारी संस्कृति का लक्ष्य है: साथ ही शरद के उन मनोवैज्ञानिक पहलुओं को भी हमें चरित्रों के व्याकरण के रूप में ग्रहण करना होगा, जिनके द्वारा स्खलितों को अपनाकर हम बापू के महान् लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

जहाँ तक संस्कृति का प्रश्न है, शरद क्लासिकल हैं, और जहाँ तक नूतन चरित्र-कला (उपन्यास) का सम्बन्ध है, शरद रोमांटिक कलाकार हैं। अपने यहाँ गुप्तजी की धार्मिक पौराणिकता तथा 'कंकाल' और 'तितली' के उपन्यासकार 'प्रसाद' की मनोवैज्ञानिक चारित्रिक आधुनिकता तथा प्रेमचन्द की ठेठ स्वाभाविकता, इन सब के संयोजन से शरद के कलाकार का आभास मिल सकता है। आदर्शवाद और यथार्थवाद की तरह ही शरद क्लासिसिज्म और रोमान्टिसिज्म के भी संयोजक हैं।

[४]

शरद के उपन्यासों में नारी-हृदय की वेदना, करुणा, ममता और त्याग की प्रधानता है। इन्हीं के द्वारा वे उद्धत एवं

बर्बर पात्रों को भी सहृदयता के स्नेह-सूत्र में सहज ही बाँध लेते हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में नारी-हृदय को ही आदर्श मानकर प्रस्फुटित किया है। जान पड़ता है, शरद बाबू को अपने सुख-दु:खमय दीर्घ जीवन में नारी-हृदय की महान् करुणा-ममता का ही बोध अधिक हुआ है; उन्हीं के प्रेमामृत को बाँटकर वे पीड़ित मानव-समुदाय को सम्बल दे गये हैं। हम कहें, उनके सम्पूर्ण सामाजिक उलझनों का सुलझाव नारी-जीवन की समस्या के हल में ही है, इसी के लिए वे विशेष प्रयत्नशील रहे हैं। इस सम्बन्ध में उन्हीं के शब्द—"मैंने अपनी ज़िन्दगी का अधिक हिस्सा Sociology के पठन-पाठन में ही गँवाया है। देश की प्राय: सभी जातियों को बहुत निकट से देखने का सौभाग्य भी मुझे मिला है। मुझे तो जान पड़ता है कि नारी-जाति का हक़ जिसने जिस हिसाब से नष्ट किया है ठीक उसी अनुपात से क्या सामाजिक, क्या आर्थिक, क्या नैतिक सब तरफ़ से ही वह उतना ही क्षुद्र हो गया है।"

शरद ने जैसे कलंकितों को एक विशेष दृष्टिकोण से देखा है, उसी प्रकार नारी के चरित्र को भी। पुरुष या स्त्री किसी के भी चरित्र को वे समाज के चिरअभ्यस्त चारित्रिक दृष्टिकोण से नहीं देखते, वे देखते हैं मुख्य वस्तु मानवता का विकास; जिसे उन्होंने एक भाषण में नारी-चरित के प्रति यों कहा है—"सतीत्व को मैं तुच्छ नहीं समझता। किन्तु इसी को नारी-जीवन का चरम

और परम श्रेय अनुभव करने को भी मैं एक कुसंस्कार ही समझता हूँ। क्योंकि, मनुष्यत्व प्राप्त करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म एवं जन्मसिद्ध अधिकार है। यह सब बाद देकर जो भी शख्स जिस किसी भी एक गुण को बड़ा बनाने जायगा, वह ख़ुद दूसरों को ठगेगा और ठगायेगा भी। वह दूसरे को मनुष्य नहीं होने देता और ख़ुद ही अनजान में मनुष्यत्व को क्षुद्र बना डालता है।"

हाँ, तो शरद ने जीवन का स्रोत, युग-युग से कदर्थित पद-दलित नारी के अंतःकरण में ही बहता हुआ देखा है। एक दिन पुरुष ने पाषाणी अहल्या का उद्धार किया था; किन्तु आज पुरुष ही जीवन-शून्य पाषाण हो गया है। कारण, पुरुष ने अपनी साधना छोड़ दी, नारी धर्म्म को अचल मानकर अपनी साधना बनाये रही, वह समाज के आधारभूत नियमों को धर्म्म मानकर गहे रही, जब कि पुरुष ने उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने की अपेक्षा अपने कदाचारों से उसे पंगु एवं निष्प्राण कर दिया। शरद की नारी जीवन के शाश्वत विश्वासों की धरोहर सँजोये हुए है, आवश्यकता है समाज द्वारा उनके सदुपयोग की। आज युगों से नारी, पाषाण-पुरुष के स्तर-स्तर को अपने आँसुओं की झिरझिरी से आर्द्र करती आ रही है—अरे, कभी तो यह जड़ सजीव हो जाय, कभी तो चैतन्य हो जाय।

शरद् ने 'श्रीकांत' में नारी की सार्वजनिक शक्ति को अन्नदा जीजी, राजलक्ष्मी और अभया की क्रमशः करुणा, ममता और समवेदना में प्रोज्ज्वल किया है। ये तीनों अपने अपने व्यक्तित्व में सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा हैं; जीवन को सार्थक करने के लिए तीनों के मार्ग अलग-अलग हैं। किन्तु समाज में जब अति-चार और कदाचार बहुत बढ़ जाता है, तब अभया की तरह अभय होकर उसके विरुद्ध विद्रोह किये बिना नारी-जाति का निस्तार नहीं। इसी लिए शरद ने नारी के आदर्श को किसी एक केन्द्र में संकुचित न कर उसे यथा प्रसंग प्रस्फुटित होने का अवसर दिया है।

शरद का नारी-संसार वास्तव में 'एक छोटा-सा द्वीप' है, जो भारतीय आदर्शों पर ही बसा हुआ है, न कि पश्चिम के यथार्थवाद पर। पश्चिम के रोमान्टिक यथार्थवाद की नारी, शारीरिक नारी है; किन्तु शरद के आदर्शों की नारी हार्दिक (आध्यात्मिक) नारी है। 'शरद की तूलिका से भारतीय नारी की जो मूर्त्ति निकली है, वह उनके आस्तिक और समाज-वादी (वैयक्तिक स्वेच्छाचारिताहीन) हृदय के रक्त-मांस से बन-सँवरकर विरचित हुई है। शरद की इस प्रतिमा में कुसुम की कोमलता, वज्र की कठोरता और जाह्नवी की पवित्रता है।'

पश्चिम में नारीत्व के नाम पर जो कुछ हो रहा है, शरद के उपन्यास मानो उसके भारतीय उत्तर हैं। पश्चिम के यथार्थ-

वाद (प्रकृतिवाद) की भाषा में—'प्रकृति ने सिखलाया, मकड़ी गर्भवती होने पर तुझे नर की आवश्यकता नहीं।' और मकड़ी मकड़े को खा डालती है। किन्तु भारत की नारी, जीवन के आदर्श को प्रकृति के कीड़े-मकोड़ों से नहीं, बल्कि मनुष्य होने के नाते मानवी साधना से ग्रहण करती आई है। शरद की नारी इसी साधना की मूर्ति है। 'माता का स्नेह और सयत्न सेवा का सदाव्रत बाँटती हुई, बड़ी आसानी से, वह इसी विकारमय शरीर में देवी हो जाती है।'

पश्चिम की नारी जब कि वासनाओं को अपनाकर परुष होती जा रही है, शरद की नारी साधना को अपनाकर अबला नहीं, तपःकोमला हो गई है। भारतीय नारी के लिए सुख-भोग ही प्रधान नहीं। इसी लिए शरद ने अपने उपन्यासों में संयोग-शृंगार को नहीं, बल्कि वियोगशृंगार को प्रधानता दी है। उन्हीं के शब्दों में—'राधा का शतवर्षव्यापी विरह ही वैष्णवों का प्राण है। प्रेम मिलन के अभाव में ही सुसम्पूर्ण और व्यथा में ही मधुर है।' सूर की राधा भी कहती है—

मेरे नैना बिरह की बेलि बई,
सींचत नीर नैन के सजनी!
मूल पताल गई।

इस ट्रेजडी (विरह) में ही आत्मानुभूति (मूल) हृदय की अतल गहराई (पाताल) तक पहुँच जाती है। इसके साथ ही

'श्रीकान्त' में अभया का यह कथन भी स्मरणीय है—"सुख प्राप्त करने के लिए दुःख स्वीकार करना चाहिए, यह बात सत्य है; किन्तु इसी लिए, इससे उलटा, जिस तरह भी हो, बहुत सा दुःख भोग लेने से ही सुख कन्धों पर आ पड़ेगा, यह स्वतःसिद्ध नहीं है। इस काल में भी सत्य नहीं और परकाल में भी नहीं।"

शरद की नारी, भारत की पौराणिक नारी है। शरद ने आधुनिक स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, तथा अन्यान्य नारी आन्दोलनों को लौकिक आवश्यकताओं की दृष्टि से नहीं, बल्कि आर्य्य-नारी की गार्हस्थिक साधना की दृष्टि से देखा है। उसे समस्या में नहीं, तपस्या में देखा है। हिंदू गार्हस्थ्य जीवन की पवित्रता में शरद की बड़ी श्रद्धा है और उनका विश्वास है कि इस पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए नारी को पुरुष से अधिक स्वच्छ और पवित्र रखना होगा। आज जो समस्या है, वह तपस्या के अभाव में है। आज तो उस समस्या को स्वीकार करने के मानी यह हो रहे हैं कि हम भारतीय जीवन को पश्चिमीय वातावरण में ग्रहण करना चाहते हैं, क्योंकि नई समस्याएँ छूत होकर वहीं से उद्‌भूत हैं। प्रश्न यह है कि भारत क्या पश्चिमीय ही हो गया है या अन्ततः उसकी एकमात्र वही परिणति है?

शरद की दृष्टि से, समाज में पुरुष के अविचार-वश नारी का जो स्थान छिन्न-भिन्न हो गया है, उसी स्थान को नारी सुशो-

भित कर समाज को पुनः समाज बना सकती है। नारी माता-रूप में, भगिनी-रूप में, कन्या-रूप में, सहचरी-रूप में शोभित और आहृत हो। विदेशी सभ्यता में यह घरेलूपन नहीं रह गया है। जिस घरेलूपन के अभाव में पश्चिमीय समाज आज मुमूर्षु है, वह अभाव हमारे यहाँ तो नहीं है। वह हमारे यहाँ भी न उपस्थित हो जाय, हमारी संस्कृति की यह जो (घरेलूपन) सबसे बड़ी देन है, वह आधुनिक युग की मृग-मरीचिका में न खो जाय, शरद इसी के लिए सजग रहे। दूर के सुहावने ढोल के मोह में, हमारे यहाँ जो है उसे गँवा न दें, तो हमारी कठौती में ही गंगा लहर सकती है। शरद के पतित चरित्र बाहर भटक रहे है, घर में स्थान पाने के लिए; जिन कुरीतियों के कारण ये बाहर जा पड़े हैं उन्हें दूर कर समाज अधिक सुखी कुटुम्ब बना सकता है।

सदियों की अशिक्षा और निरक्षरता ने हिन्दू-नारी के हृदय में जो संकीर्णता और ढोंग उत्पन्न कर दिया है और उससे गार्हस्थ्य जीवन में जिस अशान्ति और अमंगल का सृजन होता है, उसे शरद स्वीकार करते हैं। मीठी चुटकी लेते हुए चित्रण भी करते हैं। 'अरक्षणीया' की स्वर्णमंजरी, 'छुटकारा' की नयनतारा, 'पण्डितजी' में कुंज की सास, 'वैकुण्ठ का दान-पत्र' की मनोरमा, 'बाम्हन की बेटी' की रासमणि आदि इसी संकीर्णता तथा ढोंग, ईर्ष्या और द्वेष की प्रतिनिधि हैं। 'बाम्हन की

बेटी' में समाज की इन रूढ़ियों का विकट चित्रण इतना स्पष्ट हो गया है कि देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। स्वार्थपरता, ईर्ष्या, द्वेष, कलह, ढोंग, धर्मान्धता, षड्यन्त्रपटुता और हृदय की संकीर्णता, शरद की इन स्त्रियों के विशेष गुण हैं। इन स्त्रियों का भी शरद की कला में स्थान है; क्योंकि ये भी उसी कुटुम्ब की अङ्ग हैं, जिसके आदर्श की प्रतिनिधि सावित्री और बड़ी दीदी हैं। शरद के उपन्यासों में कुत्सा की मूर्त्तियाँ गार्हस्थ्य जीवन के सुख और शान्ति को भंग करने का प्रयत्न करती हुई दिखाई देती हैं; परन्तु शरद के नारीत्व में जो उच्च और महान् है, उसकी इन पर विजय होती है। 'श्रीकान्त' में वे स्वयं कहते हैं—"बुद्धि से चाहे मैं जितने तर्क क्यों न करूँ,—संसार में क्या पिशाचियाँ नहीं हैं? यदि नहीं तो राह-घाट में इतनी पाप-मूर्त्तियाँ किन को दीख पड़ती हैं? सभी यदि इन्द्रनाथ की जीजी (अन्नदा जीजी) हैं, तो इतने प्रकार के दुःखों के स्रोत कौन बहाती हैं? तो भी, न जाने क्यों, मन में आता है कि यह सब उनके बाह्य आवरण हैं, जिन्हें कि वे जब चाहें तब दूर फेंककर ठीक उन्हीं (अन्नदा जीजी) के समान अनायास ही सती के उच्च आसन पर जाकर विराज सकती है।" फिर अन्यत्र वे कहते हैं—'नारी के कलंक की बात पर मैं सहज ही विश्वास नहीं कर सकता। मुझे जीजी (अन्नदा) याद आ जाती हैं।......सोचता हूँ कि न जानते हुए नारी के कलंक की बात

पर अविश्वास करके संसार में ठगा जाना भला है, किन्तु विश्वास करके पाप का भागी होना अच्छा लाभ नहीं।'

[५]

आलोचक या विचारक जिस तथ्य का उद्घाटन अपने रिमार्कों द्वारा करते हैं, कलाकार उसे हमारे जीवन के विशिष्ट क्षणों के चित्र-पर-चित्र उपस्थित कर व्यक्त करता है। किन्हीं कलाकारों में आलोचक और चित्रकार दोनों का मिश्रित व्यक्तित्व भी प्रकट होता है। शरद के बड़े उपन्यासों में भी यही मिश्रित व्यक्तित्व है, किन्तु छोटे उपन्यासों में शरद केवल एकान्त कलाकार हैं, केवल चरित्र-चित्रकार हैं। उनके छोटे उपन्यास सहृदयों के लिए हैं और बड़े उपन्यास बुद्धिवादियों के लिए भी। आस्तिक एवं धार्मिक शरद को इस बीसवीं शताब्दी के बुद्धिवादियों को कुछ भोजन देना आवश्यक हुआ।

चित्रकार शरद अपने उपन्यासों में यत्र-तत्र मार्मिक व्यंगकार भी हैं; जिनमें विचार-शक्ति का अभाव है, उन्हें उन्हीं का विद्रूप-मात्र दिखा देते हैं। उनके उपन्यासों में यत्र-तत्र हास्यच्छटा भी है, विशेषतः 'विजया' में। शरद स्वयं भी बड़े हास्यप्रिय थे।

शरद की कला की सबसे बड़ी खासियत उसकी सादगी है। सरलपन ही उनका आर्ट है, जिसे ठेठ सरल मन से ही हृदयंगम किया जा सकता है, नागरिक वक्रता से नहीं।

शरद् बाबू ने जीवन में आकस्मिकता (होनहार) को भी मनोयोग से देखा है। यह आकस्मिकता ही प्रत्यक्ष जगत् से परे कुछ परोक्ष शक्तियों का अस्तित्व सिद्ध करती है। इसे चाहे हम ईश्वर कहें, चाहे नियति, चाहे केवल एक घटना-मात्र। मनुष्य जब तक कुछ सोचता-समझता रहता है तब तक न जाने किस दिशा से आकर कौन-सी हवा जीवन के प्रवाह को न जाने कहाँ-से-कहाँ मोड़ जाती है। तभी तो श्रीकान्त कहता है—'मैं यही तो बीच-बीच में सोचा करता हूँ कि क्या मनुष्य की हर एक हरकत पहले से ही निश्चित की हुई होती है ?' 'श्रीकान्त' को देखने से ज्ञात होता है कि हाँ, हमारे अनजान में पहले ही से निश्चित की हुई होती है, हम उससे अज्ञात रहते हैं और जब वह प्रत्यक्ष होने लगती है तब हमें आकस्मिक-सी जान पड़ती है। यही मानव जीवन का रोमांस है—एक संकुचित अर्थ में नहीं, बल्कि व्यापक अर्थ में।

जीवन का यह रोमांस लोगों को प्राय: भाग्यवादी बना देता है और बहुतों को भाग्य की ओट में अपनी निकृष्टता को छिपा लेने का एक बहाना भी मिल जाता है। शरद् बाबू भी भाग्य-वादी जान पड़ते हैं, किन्तु ऐसे भाग्यवादी नहीं। उनके भाग्य-वाद की फ़िलासफ़ी यह हो सकती है कि वह सुयोग ही भाग्य है, जिसे मनुष्य अपने मानव-रूप को सार्थक करने में सहायक बना सके। ऐसा सुयोग न मिलने पर उसकी विशेषताएँ

अगोचर भले ही रहें किन्तु मनुष्यता की दृष्टि से वह कंगाल या अभागा नहीं हो सकता।

शरद बाबू का अन्तिम उपन्यास है 'विप्रदास', जिसमें अन्ततः इस बीसवीं शताब्दी की पश्चिमीय सभ्यता के घात-प्रतिघात में भी वे भारतीय संस्कृति को सजीव और आत्म-विश्वस्त कर गये हैं। 'विप्रदास' से पूर्व 'शेष-प्रश्न' में समाज की उन जीवित-मृतात्माओं (वेश्याओं) को भी नवजीवन दिया है, जिनके उद्धार का प्रश्न निकट भविष्य में ही अछूतोद्धार की भाँति ही एक महान् प्रश्न होगा। इस प्रश्न के रूप में एक विराट् अग्निपिण्ड अन्धकार को धक-धक भेदता हुआ चला आ रहा है।

उपन्यासों के अतिरिक्त उन्होंने एकाध नाटक और बच्चों के लिए कहानियाँ भी लिखी हैं। आशा है, कभी हिन्दी में उनका भी दर्शन होगा।

कला में जीवन की अभिव्यक्ति

[१]

समाज की तरह साहित्य में भी लोकोक्तियाँ बनती जा रही हैं, जिनमें से यह उक्ति प्रायः सुनाई पड़ती है—'कला कला के लिए।'—इस उक्ति के आधार पर हमारे यहाँ यह धारणा कुछ-कुछ फैल चली है कि दिन-रात के इस हँसते-रोते विश्व से पृथक् कला कोई भिन्न वस्तु है, जिसका अस्तित्व केवल लिखने-पढ़ने के संसार तक ही सीमित है, प्रत्यक्ष जीवन की एकतारता के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। और इसी लिए. साहित्य के जड़वत् मूकपृष्ठों पर चाहे जो लिख दिया जाय, उस लिखित अंश को हिला-डुलाकर जीवन उससे यह प्रश्न नहीं कर सकता कि. तुम्हारा हमारे अभ्युदय से क्या सम्बन्ध है, तुम मेरे उपवन में फूल लगा रहे हो या बबूल? आग बरसा रहे हो या बरसात की झड़ी? तुम विध्वंसक हो या स्रष्टा?

'कला कला के लिए' का कोई भ्रान्त लेखक कदाचित् कहेगा—जीवन को कला से यह प्रश्न करने का अधिकार नहीं। वह तो केवल 'कला' है, जीवन का सगोत्रीय नहीं कि उसके कृत्यों के लिए पञ्चायत की जाय अथवा उसके कारनामों का लेखा जोखा लिया जाय। तब क्या कला जीवन से जाति-

बहिष्कृत है? परन्तु बात तो ऐसी नहीं जान पड़ती। जिस प्रकार जीवन मानव-शरीर धारण कर समाज के सम्मुख उपस्थित होता है, उसी प्रकार कला, ग्रन्थ का शरीर धारण कर जीवन के सम्मुख उपस्थित होती है। किसी भी कलात्मक ग्रन्थ को शीशे-दार आलमारी में बन्द कर या टेबुल पर रखकर हम नुमाइशी वस्तुओं की तरह केवल देखते भर नहीं, केवल उसकी छपाई-सफ़ाई या जिल्दसाज़ी को देखकर आँखों की हविस भर ही नहीं मिटाते; बल्कि, उसे हम पढ़ते हैं, कानों से सुनते हैं, मस्तिष्क से सोचते हैं और हृदय से हृदयङ्गम करते हैं। इस प्रकार जब किसी ग्रन्थ का सम्बन्ध हमारे आँख, कान, मन और वाणी से जुड़ जाता है, तब उसकी कला भला हमारे जीवन से पृथक् कैसे हो सकती है। थोड़ी देर के लिए यदि हम उसकी कला को नुमाइशी वस्तु के रूप में ही श्लाघ्य समझ लें तो भी उसकी नुमाइश में, उसके प्रदर्शन में, जो एक रस मिलता है, वह क्योंकर? यदि एक शव के सम्मुख—जिसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने स्थान पर यथावत् साकार हैं—किसी कलात्मक ग्रन्थ को उपस्थित कर दें, तब उसे क्या उस रस की उपलब्धि होगी? नहीं, क्योंकि वह चेतना जो अनुभूतिशील है, वहाँ है कहाँ! चेतना के कारण ही तो जीवन, जीवन बना हुआ है और जीवन के कारण ही कला रसमय और सहृदय-संवेद्य बनी हुई है। तब, कला जीवन से विच्छिन्न कैसे हो सकती है? यों निष्प्रभ

शरीर से जिस प्रकार चेतना लुप्त हो जाती है, उसी प्रकार कला नीरस और निष्प्राण होकर भले ही जीवन से पृथक् हो जाय।

[२]

तो क्या 'कला कला के लिए' का कथन निरर्थक है? ऐसा तो नहीं प्रतीत होता। यह कथन तो अपने भीतर एक निगूढ़ पहेली छिपाये हुए है। उस पहेली की तह तक न पहुँच सकने के कारण ही कला के सम्बन्ध में ग़लत-फ़हमियाँ फैल रही हैं। और वह बेचारी अबलाओं की तरह ही दुष्ट दृष्टियों द्वारा कदर्थित हो रही है।

'कला कला के लिए' की आवाज़ उस समय उठनी चाहिए जब समाज की तरह साहित्य भी रूढ़ि-ग्रस्त होकर विकास-हीन और प्रभाव-रहित हो जाय। देश-काल के अनुसार नियोजित किसी विशेष विधान को ही जब समाज सब कुछ मानकर लकीर का फ़क़ीर हो जाता है, तब उसकी प्रगति ही अवरुद्ध नहीं हो जाती बल्कि उसका अस्तित्व भी ख़तरे में पड़ जाता है। यही हाल साहित्य का भी है। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार समाज के रङ्ग-मञ्च पर युग-प्रवर्त्तक महाप्राण पुरुष खड़े होकर नूतन पथ प्रदर्शन करते हैं, उसी प्रकार साहित्य की रङ्गभूमि पर आकर हमारे अमर कलाकार कला को भी नूतन गति-विधि दे जाते हैं। साहित्य के भीतर से जीवन को किस प्रकार जगाना चाहिए, इसके लिए वे मानवी मनोविज्ञान के अनुसार

कला के नूतन नियमों और नूतन रूप-रङ्गों की सृष्टि करते हैं, और उनके द्वारा जीवन की उस चिरन्तन चेतना को जाग्रत् करते हैं, जो शरीर (बाह्य रूप-रङ्ग) के परिवर्त्तनशील आवरण में आत्मा की भाँति है।

ऊपर निर्देश कर चुके हैं कि मानवी मनोविज्ञान के अनुसार ही युग-प्रवर्त्तक कलाकार समय-समय पर कला को नूतन रूप-रंग प्रदान करते हैं। समय के प्रवाह के साथ ज्यों-ज्यों मनुष्य की सरलता नष्ट होती जाती है, ज्यों-ज्यों उसमें विषमताएँ बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों उसका मनोविज्ञान भी जटिल होता जाता है। इस जटिलता के कारण ही कला को मनुष्य के सम्मुख नाना प्रकार से उपस्थित करना पड़ता है। किसी सीधे-सादे युग में मनुष्य से सिर्फ़ यही कह देना पर्याप्त रहा होगा कि सच बोलो और मनुष्य ने सच को अपना लिया। परन्तु मनुष्य सत्यवादी होकर अप्रियवादी भी हो गया, तब उससे कहना पड़ा—'अप्रिय सत्य मत बोलो।' मनुष्य ने इस पाठ को भी ग्रहण कर लिया। परन्तु किसी युग का, शिशु की तरह सुबोध आज्ञाकारी मानव-समुदाय चिरसहज नहीं रह सका, उसमें जीवन की वक्रता भी आ गई। तब साहित्यकारों को उससे वेदान्त के सूत्र-रूप में ही नहीं, बल्कि विशद कथा-रूप में भी आत्मीयता जोड़ने की आवश्यकता जान पड़ी। परन्तु मनुष्य की चेतना कानों में ही नहीं,

आँखों में भी समाई हुई है। अतएव मनुष्य सदैव से जो सुनता आया है, उसका आँखों द्वारा भी समाधान चाहने लगा। उसकी इस इच्छा की पूर्ति नाटकों द्वारा हुई। इस प्रकार वाणी ने समाज के भीतर साहित्य द्वारा क्रमशः विविध प्रवेश किया। आज काव्य, कथा, उपन्यास, नाटक, इत्यादि विविध उपहारों को लेकर साहित्य मानव-समाज के साथ अपनापन बढ़ा रहा है। यदि कोई आज यह कहे कि "तुम आप्त सूत्रों में ही बातचीत करो, वाणी का इतना विस्तार करने की आवश्यकता नहीं," तो जिस प्रकार यह आदेश निरर्थक हो सकता है, उसी प्रकार यह परामर्श भी अनावश्यक होगा कि किसी समय में साहित्य के लिए जो अमुक-अमुक नियम थे, आज भी उन्हीं नियमों पर चलो। अथवा कोई छायावाद की कविताओं के लिए ब्रजभाषा के कवित्त सवैयों या पुराने लक्षण-ग्रन्थों का नियम लागू करे और कहे कि इसके बिना कविता हो ही नहीं सकती, जिस प्रकार यह बात हास्यास्पद हो सकती है, उसी प्रकार किसी युग-विशेष के कला-सम्बन्धी नियमों को ही अपनाकर साहित्य की सृष्टि करने का आदेश देना भी निरर्थक हो सकता है। कल के पूर्व-परिचित विधान जिस युग के साहित्य में प्रचलित हुए थे, उस युग के मनोविज्ञान के अनुसार वे यथेष्ट थे, किन्तु आज के विधान आज के मनोविज्ञान के अनुसार प्रभावशाली होने चाहिए। इस प्रकार 'कला कला के लिए'

का समझदार लेखक कह सकता है कि कला स्वावलम्बिनी है, किसी युग-विशेष की रूढ़ियों पर ही आश्रित नहीं। यदि साहित्यिक रूढ़ियों का शासन कला पर ज़बरन लागू किया जायगा तो स्वतन्त्रचेता कलाकार को कहना ही पड़ेगा—कला कला के लिए है, रूढ़ियों के लिए नहीं। कला अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखकर ही अपना विकास कर सकती है। उसमें नित्य नूतन कुशलता का माद्दा है, इसी लिए वह 'कला' है, चाहे वह ललित कला हो (जिससे हमें मानसिक रस मिलता है), चाहे वह उपयोगी कला हो (जिससे हमें व्यावहारिक लाभ होता है)। इस प्रकार कला प्रत्येक रूप में जीवन से सम्बद्ध है।

[३]

कला लक्ष्य नहीं, लक्षणा है; साध्य नहीं, साधन है; अभिप्रेत नहीं, अभिव्यक्ति है। लक्ष्य या अभिप्रेत तो जीवन है, जिसे मानव-समाज अनेक प्रकार से पाने का प्रयत्न करता है। साहित्य भी उनमें से एक 'प्रकार' है। यह प्रकार अपकारपूर्ण भी हो सकता है, अतएव इसे मङ्गल और मनोरम बनाने के लिए ही कला को साधन बनना पड़ा। साहित्य में कला का अर्थ है—मनोहरा। जीवन में जो कुछ सत्य है, शिव है, कला उसे ही 'सुन्दर' (मनोहर) बनाकर साहित्य द्वारा संसार के सम्मुख उपस्थित करती है। कला साहित्य का बाह्यरूप है, जीवन उसका अन्तःस्वरूप। कला अभिव्यक्ति है; जीवन अभि-

व्यक्त। सुन्दर शरीर जिस प्रकार अन्तश्चेतन का नयनाभिराम प्रकाशन करता है उसी प्रकार कला साहित्य की जीवनमयी अन्तरात्मा की मनोरम अभिव्यक्ति करती है। परन्तु 'विष-रस-भरा कनक-घट जैसे' के अनुसार, जिस प्रकार सुन्दर शरीर में विषाक्त हृदय का होना सम्भव है, उसी प्रकार मनोहर कला द्वारा जीवन का दूषित किंवा विकृत रस भी उपस्थित हो जाना साहित्य में असम्भव नहीं है और प्रायः इसी कोटि के कलाकार अपने बचाव के लिए कह उठते हैं—'कला कला के लिए'। अर्थात् कला ने यदि अपने कलित रूप को व्यक्त कर दिया है तो उसका अस्तित्व सार्थक है, उसे उसी के लिए देखना चाहिए। यह विचार ठीक ऐसा ही जान पड़ता है, जैसे यह कहा जाय—'सुन्दरता सुन्दरता के लिए'। निःसन्देह सुन्दरता, सुन्दरता का आदर्श हो सकती है; किन्तु वह सुन्दरता, वह कला, शोभाशालिनी 'विष-कन्या' की भाँति प्राण-घातक भी हो सकती है। ऐसी कला साहित्य के लिए एक अभिशाप है। अतएव कला की सार्थकता केवल 'सुन्दरता' में नहीं है, बल्कि उसके मङ्गलप्राण होने में है।

निदान, हम तो 'कला कला के लिए' का सङ्केत इसी अभिप्राय में ग्रहण कर सकते हैं कि कला रूढ़ि-रहित हो; उसे नाना परिवर्त्तनों द्वारा कल्याणमयी चेतना को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता हो। यह स्वतन्त्रता कला के लिए ही नहीं, जीवन के

लिए भी वाञ्छित है। किन्तु स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता ही रहे, वह स्वेच्छाचारिता न बन जाय। स्वेच्छाचारिता भी उतनी ही अशोभन है, जितनी कि परतन्त्रता।

[४]

जब हम स्वतन्त्रता-पूर्वक जीवन को गतिशील करते हैं, तब मनुष्यता के धरातल पर 'जीवन' एक सरिता के रूप में प्रवाहित होता हुआ दीख पड़ता है। सरिता का जीवन स्वतन्त्र है, इसी लिए वह प्रगतिशील है। यदि उसे हम परतन्त्र कर दें तो वह 'जीवन' एक सरोवर के रूप में सङ्कीर्ण और दूषित हो जायगा। यदि इस परतन्त्रता की प्रतिक्रिया में जीवन स्वेच्छा-चारिता के लिए उद्‌बुद्ध हो जाय तो? 'चूल्हे से निकले तो कड़ाही में गिरे' वाली बात हो जायगी। स्वेच्छाचारिता से जीवन की नदी में 'बाढ़' आ सकती है, जिससे अपना जीवन तो पङ्किल हो ही जायगा, साथ ही समाज भी तबाह हो जायगा। यह ठीक है, कि बाढ़ भी 'जीवन' का एक रूप है, किन्तु क्षणिक रूप। बाढ़-द्वारा यदि नदी समुद्र बन जाना चाहे तो वह जीवन का माधुर्य्य खो देगी—

'बह जाता बहने का सुख,
लहरों का कलरव, नर्त्तन।
बढ़ने की अति-इच्छा में,
जाता जीवन से जीवन।'

अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार प्रत्येक की एक मर्यादा है, समुद्र भी अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता। जीवन का शाश्वत रूप बढ़ी हुई नदी में नहीं, बल्कि स्वाभाविक गति से बहती हुई सरिता में है। सरिता स्वतन्त्र है, वह किसी बन्धन से बाँधी नहीं जा सकती। परन्तु जो स्वतन्त्रता को अपनाता है, वह दूसरों के बलात् बन्धन से तो नहीं बँधता, परन्तु आत्ममर्यादा के लिए वह स्वयं ही प्रसन्नतापूर्वक एक मुक्त-बन्धन मनोनीत कर लेता है। सरिता का सीमित जीवन अपने दोनों तटों में निर्बन्ध है, परन्तु उसकी वही सीमित-निर्बन्धता उसका 'मुक्त-बन्धन' भी है। इसी लिए सरिता की कवि-आत्मा कह सकती है—

'बन्दिनी बनकर हुई मैं
बन्धनों की स्वामिनी-सी।'

जीवन की तरह कला में भी इसी प्रकार मर्यादा का आत्म-स्वीकृत बन्धन होना चाहिए, तभी वह स्वतन्त्र जीवन की स्वतन्त्र कला हो सकती है।

सरिता का आत्ममर्यादाशील जीवन ही हमारा परिपूर्ण आदर्श है—

'आत्मा है सरिता के भी,
जिससे सरिता है—सरिता।
जल-जल है, लहर-लहर रे,
गति-गति, सृति-सृति चिरभरिता।'

उस आत्मामयी सरिता में सजलता भी है, ऋजु-कुञ्चित पथों की वक्रता भी है—इसी लिए उसमें गति है; उसमें निर्मलता भी है और लहरों की रसिकता भी। परन्तु सब कुछ मर्य्यादित है। कथा-साहित्य में कला-द्वारा जीवन की ऐसी ही लौकिक अभिव्यक्ति चाहिए। जीवन की यह अभिव्यक्ति क्या 'यथार्थ' नहीं है?

[५]

साहित्य में यथार्थवाद के नाम पर अन्धेर हुआ है। क्या लज्जा-रहित वास्तविकता को ही यथार्थता कह सकते हैं? तब ऐसी वास्तविकता में कला की क्या ख़ूबी है? कला तो वास्तविकता को सँभालती-सँवारती है, इसी लिए वह कला है। कला का अस्तित्व ही आदर्श का, मंगल का सूचक है।

भगवान् ने अपने अनेक अवतारों में से एक अवतार कलाकार का भी लिया था। मानव-जीवन के सबसे बड़े कलाकार कृष्ण हैं। वे 'नटवर' हैं, 'मुरलीधर' हैं, उनके स्वरूप में कला मूर्त्तिमान् है। उस कलाकार का कौशल तो देखिए। भरी सभा में जब दुर्योधन, कला की पाञ्चाली को विवस्त्र कर देना चाहता है, तब न जाने किस अज्ञात कक्ष से कलाकार कृष्ण, पाञ्चाली के लिए अञ्चल-पर-अञ्चल बढ़ाकर अनन्तदुकूला वसुन्धरा की भाँति उसे शोभान्वित कर देता है।

सुदन्रता यदि कला है, परिच्छद है, तो यथार्थ उसका शरीर है और आदर्श उसकी मंगल आत्मा। शरीर अपनी स्थूल यथार्थता के कारण प्रशस्त नहीं है, वह महान् है अपनी आत्मा के कारण। इस दृष्टि से यदि हम देख सकें तो विशाल शरीरवाले कितने ही नर-पशुओं की अपेक्षा सूक्ष्मकलेवरा चींटी में अधिक मंगलचेतना मिल सकती है।

जब सूक्ष्मतम ज्योतिर्मयी आत्मा शरीर का इतना बड़ा आवरण अपनाये हुए है, (उसे भी नग्न रूप में उपस्थित होने में लज्जा मालूम पड़ती है) तब उस शरीर (यथार्थ) की भी मर्य्यादा का ध्यान रखना ही पड़ेगा। वह राजमहिषी जिस पालकी (शरीर) में प्रवास कर रही है, वह पालकी भी अनावृत कैसे रह जाय ! आत्मा सन्मान की वस्तु रहे, वह कौतुक या तमाशे की चीज़ न बने; वह अधिकारी द्वारा समझने और मनन की वस्तु हो, इसी लिए वह आवरण-पर-आवरण ग्रहण करती है।

जिस प्रकार शरीर आत्मा का माध्यम है, उसी प्रकार यथार्थ आदर्श का माध्यम। यथार्थ—आदर्श को किस प्रकार समाज के सामने उपस्थित करे, इसे उचित रूप से हृदयङ्गम करने में ही कलाकार की विशेषता है। घोर-से-घोर कलुषित व्यक्ति भी जब अपना फोटो खिंचवाने जाता है, तब वह अपने को इस 'पोज़' में साकार करना चाहता है कि वह लोक-दृष्टि को सुदर्शन जान पड़े। फिर साहित्य के चित्रों में विकृति की लालसा

क्यों ? साहित्य में व्यक्ति और समाज के चित्रों को उपस्थित करते समय कलाकार को फोटोग्राफर से अधिक कला-कुशलता दिखानी पड़ती है। यथार्थ को वह इस 'तर्ज़' से उपस्थित करता है कि वास्तविकता तो प्रकट हो ही जाती है, साथ ही जो अलक्ष्य (आदर्श) है, वह भी लक्ष्य में आ जाता है। किसी फोटो में चिपटी नाक को देखकर, बिना फोटोग्राफर के कहे भी स्वयमेव शुक-नासिका का आदर्श सामने आ जाता है। यथार्थ—मनोवैज्ञानिक निरीक्षकों के लिए एक सांकेतिक आधार है। यथार्थ की अभिव्यक्ति का अच्छा 'तर्ज़' कला का आदर्श है. जीवन की अभिव्यक्ति का अच्छा ढङ्ग यथार्थ का आदर्श।

[६]

कलाकार सब जगह बोलता नहीं, तो भी, उसके चित्रण की प्रत्यक्ष वास्तविकता से अप्रत्यक्ष वास्तविकता (अभीप्सित आदर्श) का बोध हो जाता है। आधुनिकतम कलाकार स्वयं नहीं बोलता, वह सङ्केत से ही अधिक काम लेता है। परन्तु जो लोग कथा-साहित्य को कला की दृष्टि से नहीं, बल्कि धर्म और नीति की दृष्टि से ग्रहण करना चाहते हैं, उनके लिए पौराणिक कहानियों में उपदेश-मूलक आदर्श भी हैं। समाज का यह धर्म-पीड़ित वर्ग ऐसा है, जो सङ्केत की भाषा नहीं समझ सकता। वह रूढ़िग्रस्त मूढ़ है। वह सुझाने से नहीं, बल्कि समझाने से ही समझता है। हमारे अमर कथाकार स्व० प्रेमचन्दजी ने इस

वर्ग के पाठकों की साहित्यिक रुचि को उन्नत करने में बहुत हाथ बँटाया है; केवल नैतिकता के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना के रूप में भी।

[७]

सर्वश्री रवीन्द्रनाथ, प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र हमारे वे स्वनाम-धन्य कलाकार हैं, जिन्होंने आधुनिक विश्वसाहित्य में भारत का मस्तक ऊँचा किया है। प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र आदर्शवादी कलाकार हैं। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर इनके बजाय एक भिन्न प्रकार के कलाकार हैं। उनकी सभी कथा-कृतियों को यथार्थ-वाद और आदर्शवाद के मापदंड से मापना अवाञ्छित प्रयत्न करना होगा। उनकी कला निःसन्देह कला के लिए भी है। वह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के आदर्शों के लिए ही नहीं, अपितु केवल मानसिक रस-संचरण के लिए भी है। वह रस निर्विष है, इसी लिए 'विष-कन्या' के रूप-रस की तरह घातक नहीं, स्वास्थ्यदायक है। इस प्रकार की कृतियों में आदर्श तो नहीं ढूँढ़ा जा सकता, किन्तु यथार्थ हो सकता है, यद्यपि यथार्थ के लिए ही लिखा जाना इनके लिए आवश्यक नहीं होता। उनका यथार्थ कवि का यथार्थ (भाव) है, जिसमें जीवन के ऊर्ध्ववातावरण का सत्य रहता है।

हाँ तो, प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र आदर्शवादी कलाकार हैं। यद्यपि प्रेमचन्द जी अपनी आदर्शवादिता के लिए विश्रुत हैं

शरच्चन्द्र अपनी यथार्थवादिता के लिए; परन्तु प्रेमचन्द अपनी सभी कृतियों में आदर्शवादी नहीं हैं, इसके विपरीत शरच्चन्द्र अपनी सभी कहानियों और उपन्यासों में एक-से आदर्शवादी हैं। प्रेमचन्द जी की अनेक कहानियों में तो हम 'कला कला के लिए' की ही बात पा सकते हैं। उनकी सर्वाङ्गसुन्दर कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' को ही लीजिए, इसमें किस आदर्श का उपदेश है? वह तो केवल एक मानसिक रस प्रदान करती है, जिससे हृदय तृप्त होता है। प्रेमचन्द जी मुख्यतः अपने उपन्यासों में ही आदर्शवादी हैं। इनके उपन्यासों में केवल सामयिक समाज और राष्ट्र का साहित्यिक इतिहास ही नहीं है, बल्कि जिस प्रकार के पाठकों के लिए उन्होंने अपने आदर्श उपस्थित किये हैं, उनके मानसिक विकास के अनुसार मानवी मनस्तत्त्व भी हैं।

राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त की भाँति प्रेमचन्द जी राष्ट्रीय उपन्यासकार हैं। राष्ट्रीय प्रश्नों के साथ समाज का जहाँ तक सम्बन्ध है, वहीं तक उन्होंने समाज को अपनाया है। 'गोदान' इसका अपवाद है, जिसमें सामाजिक प्रश्न को सामाजिक रूप में ही दिखलाया है। प्रेमचन्द जी से भिन्न शरच्चन्द्र सर्वथा सामाजिक उपन्यासकार हैं, यद्यपि अपवाद-स्वरूप 'पथेर दाबी' में वे भी राष्ट्रीय कलाकार के रूप में प्रकट हुए। अपनी कहानियों और उपन्यासों में शरच्चन्द्र ने जिन सामाजिक प्रसङ्गों का निर्देश

किया है, राष्ट्रीय प्रश्नों से उनका राजनीतिक लगाव नहीं। राष्ट्र के स्वतन्त्र या परतन्त्र किसी भी युग में वे प्रसङ्ग ज्यों के त्यों रहेंगे। राष्ट्रीय प्रश्नों का सम्बन्ध यदि शासकों की राजनीति से है तो शरच्चन्द्र के सामाजिक प्रश्नों का सम्बन्ध व्यक्तियों की रीति-नीति और अनुभूति से। शरद् बाबू उसी रीति-नीति को सुलझाना चाहते हैं। इसके लिए सहृदयता और सहानुभूति-पूर्ण उनका एक विशेष दृष्टिकोण है। वह दृष्टिकोण उनकी छोटी-सी-छोटी कहानी से लेकर बड़े-से-बड़े उपन्यास में प्रकट हुआ है। प्रेमचन्द का आदर्श व्यक्त है, शरच्चन्द्र का आदर्श अव्यक्त। प्रेमचन्द का आदर्श पञ्चनद की तरह उद्घोष करता है तो शरच्चन्द्र का आदर्श अन्तःसलिला की तरह भीतर ही भीतर सूक्ष्म संवेदन को जाग्रत करता है। प्रेमचन्द जी के आदर्श में जनमत का व्यक्तित्व है, शरच्चन्द्र के आदर्श में प्रतिमतित्व।

[८]

आदर्श को यदि हम संकुचित अर्थ में ग्रहण करेंगे, अथवा उसे जप-तप, पूजा-पाठ, जाति-धर्म तक ही केन्द्रित करेंगे, तो यह हमारी ही भूल होगी। प्रेम, सहानुभूति, करुणा, ममता ये भी आदर्श के प्रतीक हैं; ये किसी जाति, धर्म्म और देश तक ही सीमित नहीं। आदर्श तो मनुष्यता की तरह विस्तृत, आत्मा

की तरह व्यापक है। देश-काल के विभेद से आदर्श नव-नव रूप धारण करता है। इस चिरनवागन्तुक पथिक के लिए यथार्थ 'गाइड' का काम करता है। वह समाज की ऊँची-नीची गलियों से घुमाता हुआ आदर्श को उसके उज्ज्वल सिंहासन तक पहुँचा देता है। यथार्थ के बिना आदर्श गति-रहित है, आदर्श के बिना यथार्थ जीवन-रहित। आदर्श यदि राजपुरुष है तो यथार्थ उसका राजमन्त्री। यह राजमन्त्री ही राजपुरुष को मानवता के संरक्षण के लिए मन्त्रणा देता है। यथार्थ चाहे तो अपने राजा के साथ विश्वासघात कर सकता है। जब वह विश्वासघात करता है तभी जन-रव क्षुब्ध हो उठता है। यों वह अपने स्थान पर सार्थक है।

कलाजगत् और वस्तुजगत्

[१]

जब हम 'भारतवर्ष' नहीं, बल्कि 'भारतमाता' कहते हैं, तब इसमें हमारा क्या दृष्टिकोण रहता है? हम मानचित्र उठाकर देखते है तो नदियों, समुद्रों, पर्वतों और प्रदेशों का सीमा-विस्तार देख पड़ता है, कहीं कोई मूर्त्ति नहीं; यह तो एक नक़शा है। किन्तु बाहर (वस्तुजगत् में) जो नक़शा है, वही हमारे भीतर मातृभूमि की एक जीवित प्रतिमा भी रच देता है और हम गा उठते हैं—

नीलांबर परिधान हरित पटपर सुंदर है;
सूर्य चंद्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे-मंडल हैं;
बंदी विविध विहंग, शेष-फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इस वेश की!
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्त्ति सर्वेश की!

इस प्रकार जब हम मातृभूमि की वंदना करते हैं तब घोर रियलिस्ट राजनीतिक होते हुए भी भावप्रवण हो जाते हैं, वस्तु-

जगत् से काव्यजगत् में चले आते हैं। यहीं वस्तुजगत् और काव्यजगत् का पार्थक्य ज्ञात हो जाता है। मनुष्य जब जड़ की नहीं, बल्कि सजीवता की उपासना करता है तब वह कवि हो जाता है। हम स्वयं जड़ नहीं, एक जीवित प्राणी हैं; इसी लिए हम वस्तुजगत् को अपनी ही तरह एक व्यक्तित्व देकर देखने के आदी हैं। केवल हाड़-मांस का शरीर ही मनुष्य नहीं है। शरीर तो एक शव है, मनुष्य का एक नश्वर आकार; जैसे देश का नक़्शा। उस आकार-प्रकार में मनुष्य की जो आत्मचेतना है, वही उसे जीवित प्राणी बनाती है, वही मातृभूति को भी भारत-माता के रूप में उपस्थित कर देती है। उसी चेतना के कारण वस्तुजगत रूप-रंग-रस-गंध और ध्वनिमय है। जड़-सृष्टि (वस्तुजगत्) में चेतना का अधिकाधिक सरस विकास ही कविता है। कवि जब कहता है—

'धूलि की ढेरी में अनजान
छिपे हैं मेरे मधुमय गान।'

तब मानो वह पार्थिव जगत् (वस्तुजगत्) में इसी आत्म-चेतना का, शरीर में आत्मा की भाँति आभास पाता है। इस प्रकार कविता, पार्थिव धूलिकणों (लौकिक तत्त्वों) में अलौकिक चेतना की किरणद्युति है, वास्तविकता के बहिर्मुख पर अन्त:मुख का 'आनन ओप-उजास' है।

[२]

कविता का भी अपना एक विज्ञान है। वह केवल कपोल-कल्पना नहीं, बल्कि उसका भी वैज्ञानिक आधार है। हम देखते हैं कि कुम्हार के सामने वास्तविकता (पार्थिवता) की मिट्टी का एक ढेर लगा रहता है, इसे ही वह न जाने कितने आवर्त्तों से एक मङ्गल घट बना देता है! इस नये रूप में मूल वास्तविकता क्या से क्या हो जाती है! इसी प्रकार वस्तुजगत् को कलाजगत् में परिणत करने के लिए हमारे मन के भीतर भी न जाने कितने आवर्त्त चलते हैं—कुम्हार के घूमते हुए चाक से भी अधिक तीव्र गति से। हम आँख से जिन प्रत्यक्ष दृश्यों को देखते हैं, उन्हें देखने के लिए, मन को कितनी फेरियाँ देकर आँखों तक पहुँचना पड़ता है, यह वैज्ञानिक जानते हैं। ऐसी ही क्रिया कविता में भी एक मनोवैज्ञानिक 'रोटेशन' है। कवि को अपनी कला की मूर्ति अङ्कित करने के लिए, मनोविज्ञान से भी आगे जाकर एक और सूक्ष्मतम विज्ञान की शरण लेनी पड़ती है, वह है भावविज्ञान। साहित्य का रस-शास्त्र वही भावविज्ञान है। काव्य को जब हम अलौकिक कहते हैं, तब हमारा अभिप्राय यह रहता है कि उसमें कवि केवल दृश्य (वस्तु) जगत् का दिग्दर्शक न रहकर कुछ आंतरिक क्षणों का रस-सिद्ध साधक भी रहता है।

[३]

वृन्त में कोई फूल गुलाब की भाँति अकेले खिलता है, कोई अपनी डाल में गुच्छ बनाकर। छायावाद के वर्तमान कवि अपने-अपने काव्य में एकान्त भाव से एकाकी खिले हैं, समुदाय को लेकर नहीं। छायावाद और वस्तुवाद अथवा भावजगत् और दृश्यजगत् की कविता विश्व-रंगमंच के अव्यक्त (स्वगत) और व्यक्त (लोकगत) कथन के समान है। इसे हम सबजेक्टिव और अबजेक्टिव भी कह लें। स्वगत में आत्मलीन किंवा अपने में खोये हुए क्षणों का उद्‌गार रहता है। सभी के जीवन में ऐसे एकाकी क्षण भी आते हैं, अतएव वे एकान्त उद्‌गार भी कहीं न कहीं, किसी न किसी क्षण, सहृदयों के संवेदन बन जाते हैं।

कवि जब अपनी चेतना में वस्तुजगत् को ग्रहण करता है तब वह विचारप्रधान हो जाता है, जब कल्पनाजगत् को स्पर्श करता है तब रसप्रधान। एक में वह मनोवैज्ञानिक रहता है, दूसरे में भावुक। प्रबंधकाव्य में दोनों का सहयोग रहता है।

कवि वस्तुजगत् में तभी आता है जब वह समुदाय की मनोधारा में अवगाहन करना चाहता है। समुदाय के संगम पर खड़ा होकर वह स्वगत विचार भी करता है और समूहगत भी। किंतु उसका स्वगत भी समूह की ओर ही प्रवाहित रहता है, यथा, गुप्त जी के 'द्वापर' में। वस्तुजगत् प्राय: प्रबंधकाव्यों का क्षेत्र है। प्रबंधकाव्य के मनोविज्ञान में वह भावुक क्षण भी

सम्मिलित रहता है, जहाँ व्यक्ति, समूह की विचार-धारा में नहीं, बल्कि अपने ही रसस्रोत से अनुरंजित रहता है। दूसरे शब्दों में, वह कल्पना से भी उर्मिल रहता है। वस्तुजगत् और कल्पनाजगत् का यह संयोग गुप्त जी के 'साकेत' में है, जहाँ वे समूह के कवि के साथ ही छायावाद के भी कलाधर हैं।

हाँ तो, वर्तमान छायावादी अपने भाववृंत में आत्मव्यंजक हैं, गुप्त जी इत्यादि विश्वव्यंजक। दोनों का कविकर्म अलौकिक है—एक लोकोत्तर चित्र प्रदान करता है, दूसरा लोकोत्तर चरित्र। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में शोभन कलाकार हैं। किंतु छायावाद की कला में भी लोकव्यंजना संभव है, जैसे पंत जी की इधर की रचनाओं में। अंतर सामाजिक दृष्टिकोण के प्रसार का है। द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि गुप्त जी मध्ययुग के उन आदर्शों के कवि हैं जो जनता में एक अभ्यासपूर्ण विश्वास बन गये हैं; किंतु पंत आदर्शों की जनशोषक रूढ़ियों को तोड़कर उस समाज के कवि हैं, जहाँ नवमानव का त्राण है। छायावाद की नवीन लोकव्यंजक कला भी भविष्य में कैसा सुविकास पायेगी, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता, तथापि इसका भी विकास तो होगा ही। अभी तो वह अपने रूखे-सूखे प्रयास में है।

[४]

भीतर की अपेक्षा, मनुष्य बाह्य प्रभावों को अधिक शीघ्रता से ग्रहण करता है, जैसे जलवायु और प्रकाश को। यह प्रभाव

प्राकृतिक है। किंतु भीतर से जो ग्रहण किया जाता है वह मार्मिक होता है, प्राकृतिक जगत् के प्रभावबोध से भी अधिक स्पंदनशील। छायावाद की कल्पना मिथ्या नहीं, वह तो अनुभूति को, स्पंदन को, अभीष्ट तक पहुँचाने में एक पोएटिक आँकलन है—किसी रस को हृदयंगम कराने में जब वस्तुजगत् का कोई मापदंड सहायक नहीं होता, तभी वहाँ कल्पना अग्रसर होती है।

जो वस्तुजगत् के सुख-दुख की तीव्रता से भौगोलिक शीतोष्ण की भाँति अभ्यस्त हैं, वे छायावाद में भी उसी तीव्रता द्वारा सुख-दुख से अवगत होना चाहते हैं और निष्फल होने पर उसे मिथ्या कह देते हैं। सचमुच अब तक छायावाद ने वस्तु-जगत् को व्यावहारिक जीवन के लिए ही छोड़ दिया। व्याव-हारिक जीवन को जिस रस की आवश्कता है, केवल उसे ही लेकर उसने अपने काव्य को सुस्निग्ध कर लिया। उसने कपास के बजाय रेशम दिया। उसे हृयथंगम करने के लिए वैसी ही स्निग्ध विदग्धता अपेक्षित है। किंतु इसके पूर्व ?—

आः, आज तो मनुष्य अपने निपीड़न में बाहर-भीतर दोनों ही जगह स्पन्दनशून्य हो गया है। आज भी जिनकी चेतना शेष है, वे अपनी स्वल्पता में, अपनी सम्पन्नता के स्वास्थ्य में, अनेकों के वंचित सुख को सूचित करते हैं।

[५]

देश का एक विचारक-समुदाय वह है जो काव्य को अति वास्तविकता (उपयोगिता) के ही दृष्टिकोण से देखना चाहता है। उसकी उपयोगिता के जगत् में मनुष्य केवल उदरंभरि ही न हो जाय, नवीन जागृति के कवियों को इसका ध्यान रखना होगा।

ध्यान रखना होगा कि रोटी का टुकड़ा यदि पेट के लिए उपयोगी है तो जीवन का गान हृदय के लिए। जो कुछ शरीर की पूर्ति करे वही उपयोगिता नहीं है। आज के संक्रांति-काल में यदि इसे ही उपयोगिता मानते हैं तो इसके मानी यह हैं कि जीवन का वाद्य-यंत्र कहीं टूट गया है और बिना नवीन निर्माण हुए उससे कोई सुरीला स्वर नहीं निकाला जा सकता। किंतु नवीन निर्माण में लक्ष्य हमारा सुरीले स्वर का ही रहेगा, चाहे स्वरलिपियाँ (अब तक की रूढ़ नियम-नीतियाँ) बदल जायँ। शरीर ही जीवन नहीं है, शरीर के आधार से हम जो चरितार्थ करते हैं वही जीवन है। भावकाव्य उसी जीवन को ग्रहण करता है।

उपयोगिता की पूर्त्ति व्यावहारिक कार्यों में है; उसका क्षेत्र औद्योगिक है। उद्योग और भावयोग दोनों अपने-अपने स्थान पर समीचीन हैं, इन दोनों का तुलनात्मक विभाजन कर एक को आवश्यक और दूसरे को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता।

आवश्यकता पड़ने पर भावयोग की सीमा में उद्योग, शांतिनिकेतन में श्रीनिकेतन की भाँति, शोभित हो सकता है।

मनुष्य के भीतर जो भावयोग (काव्य) है, वही उद्योग को भी सहज कर देता है। यदि गान न रहे, यदि काव्य न रहे तो मनुष्य का श्रम अथवा जीवन की वास्तविकताएँ कितनी विकराल हो जायँ, यह खेत जोतता हुआ किसान और सड़क कूटता हुआ मज़दूर ही बतला सकता है।

काव्य यदि उद्योग को सहज कर देता है तो अभाव में भी एक भाव बरसा देता है, वहाँ अकिंचन कृषकवधू कहती है—

टूटि खाट घर टपकत टटिऔ टूटि।
पिय कै बाँह उसिसवाँ सुख कै लूटि॥

जो झोंपड़ी में रहता है, उसके लिए वही सब कुछ नहीं है। वह न केवल किसान है, न केवल मज़दूर, न अन्य श्रमजीवी; वह तो कोमल स्पंदनों का प्राणी भी है। झोंपड़ी का किसान भी केवल गाय-बैल की तरह आहार ग्रहण कर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, वह कभी-कभी अपनी तान भी छेड़ता है, उसके भी कुछ स्वप्न रहते हैं। वह क्या गाता है, क्या गुनगुनाता है, इसके उदाहरण हमारे साहित्य के 'ग्रामगीत' हैं, जिनमें छायावाद और रहस्यवाद का अभाव नहीं। उन गीतों में तो हमारे चिरमूक गाय-बैल भी अपने हृदय के भाव कहते हैं, स्वयं मूक रहकर उन्होंने किसानों को ही अपनी भाषा दे दी है। मनुष्येतर

जीवजगत् ने यही भाषा उन रहस्यवादी तपस्वियों को भी दे दी थी, जिन्होंने अपने आश्रमों में खग-मृग इत्यादि को अपना पारिवारिक बना लिया था। जैसे परिवार के लोग उपयोगिता के नाम पर ही एक नहीं हैं, बल्कि 'अनेक' से 'एक' होने के कारण परस्पर पूरक हैं, उसी प्रकार हमारे पालित जीवजगत् भी। किंतु भारत के लिए जो कुछ स्वाभाविक एवं पारिवारिक है, वह पश्चिम के लिए व्यापारिक है। हाँ, व्यापारिक जगत् ने आज जीवन में जो विषमता उत्पन्न कर दी है यदि हम उसकी ओर से आँख मूँद लेते हैं तो आज का शेष गान भी गाने को न रह जायगा। हम गान की रचना तो करें किंतु आसन्न समस्या की ओर से उदासीन भी न हों।

[६]

संसार में अगणित वास्तविकताएँ हैं, भारत ने सभी वास्तविकताओं को शोभन नहीं माना। जिन वास्तविकताओं से मानव जीवन को सुरस मिला, उसने उन्हीं की चाशनी में अपने स्वभाव को ढाला। वह ढली हुई स्वाभाविकता ही हमारे जीवन की कला है। हम यों क्यों न कहें कि वास्तविकता जब स्वाभाविकता बनती है, तभी वह कला हो जाती है। वास्तविकता और स्वाभाविकता में उतना ही अंतर है, जितना पश्चिम और भारत में अथवा व्यापारी और गृहस्थ

में। व्यापारी और गृहस्थ की संकलन बुद्धि में विज्ञान और काव्य का अंतर है। विदेशी व्यापारिक जगत् ने अपने रूखे सूखे विज्ञान की दूकान में वास्तविकता की इतनी ढेरी लगा दी है कि वह अपने ही बोझ से आप दबा जा रहा है। भारत ने जब अपनी स्वाभाविकता को अपनी कला बनाया तब उसने मानो वास्तविकता को कवित्व का मनोयोग दिया अथवा विज्ञान को सौन्दर्य प्रदान किया। विज्ञान में जो कुछ सत्य और शिव है उसे उसने सौन्दर्य द्वारा मनोरम बना लिया। इस प्रकार उसने वैज्ञानिक वास्तविकता को रूपांतरित कर साहित्यिक स्वाभाविकता को जन्म दिया।

जीवन की इसी स्वाभाविकता को सूचित करने के लिए हमारे यहाँ भित्तिचित्रकला का जन्म हुआ था। उन चित्रों में एक विशेष भारतीय दृष्टिकोण निहित है, वह यह कि कला हमारे चारों ओर के भावमय जीवन से रूप रंग ग्रहण करती रही है। घर के भीतर रहनेवाले अपने शरीर के भीतर (हृदय में) जो कुछ थे, उसी का प्रकाशन इन भित्तिचित्रों से हुआ। गृह को देखकर जिस प्रकार हम गृहपति को जानते थे उसी प्रकार इन भित्ति-चित्रों द्वारा देह के भीतर रहनेवाले देही को जानते थे; देह के न रहने पर भी देही अपने परिचय के लिए जीवित रहता था। हमारे चारों ओर का जीवन जिस संस्कृति या स्वभाव के साँचे में ढला हुआ था, उसी के अनुरूप हमारी चित्रकला का रूप-रंग

था। जिस प्रकार उन पौराणिक दीवालों पर विविध वर्ण-व्यंजित तूलिका दौड़ती रही, उसी प्रकार हमारे गृहजीवन में भी एक कला घूमती रहती थी। भारत का जीवन वास्तविकता की भित्ति पर एक काव्य (स्व-भाव) रहा है, मानो पृथ्वी पर हरियाली। उसकी 'स्वाभाविकता' में वास्तविकता, कविता के लिए आधार थी; आधेय या आराध्य नहीं। इस प्रकार भारत अपने जीवन में एक फ्रेस्कोआर्ट का आर्टिस्ट रहा है।

व्यक्ति के मूर्त्त जीवन में एक अमूर्त्त कवित्व भी अगोचर है। और सच तो यह है कि वह अमूर्त्त कवित्व ही हमारे मूर्त्त जीवन का प्राण है, विकास है; उसी से हम वास्तविकताओं की मिट्टी में भी एक जीवित प्रतिमा हैं। अन्यथा, जीवन हाड़-मांस की ठठरियों के दुस्सह भार के सिवा क्या रह जाय? कला के बिना वास्तविकता मृत है, जीवित-वास्तविकता ही मानवीय स्वाभाविकता है। काव्य, सङ्गीत, चित्र तथा अन्यान्य कलाएँ हमारे जीवन-पोषक मनोरागों के साहित्यिक स्वरूप हैं, जिन्हें एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी, पूर्वजों की वसीयत के रूप में, पाती चली जाती है। इसलिए कला की उपेक्षा कर, साहित्य को, जीवन को, एकमात्र शुष्क वास्तविकता पर ही केंद्रीभूत कर देना भावयोग का लक्ष्य नहीं हो सकता, उद्योग का हो सकता है। उद्योग ने आवश्यकता से अधिक वास्तविकता पर ध्यान दिया। (लौह-यंत्रों की भरमार इसका उदाहरण है।) अपने व्यावहारिक जीवन

में जब हम कला को मूर्त्त करते हैं तब हमारा उद्योग भी केवल उद्योग न रहकर, भावयोग की एक कला हो जाता है,—यन्त्रों की कला नहीं, बल्कि मानवीय श्रम की कला, जीवन की तन्मयता की कला, स्वाभाविक कला !

हाँ, आज का हमारा कला-प्रेम बहुत कुछ अस्वाभाविक हो गया है। केवल इसी लिए नहीं कि हम वास्तविकता पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देने लगे हैं, बल्कि इसलिए भी कि कला हमारे लिए रूढ़ हो गई है। युग की हलचलों में जहाँ कला का बहिष्करण तथा वास्तविकता का नवीनकरण (समाजवाद) मध्ययुग तथा आधुनिक युग की विभीषिकाओं-द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों की खिन्नता को सूचित करता है, वहाँ नवचैतन्य-युग के प्रश्नों से आँख मूँदकर कला के संरक्षण का ढोंग भी एक फ़ैशन-सा लगता है। आज आर्टगैलरियों की कला मुट्ठीभर सम्पन्न व्यक्तियों के लिए एक ललित कौतुक जुटाती है। प्रदर्शनकारी उसे प्रदर्शित करते हैं, देखनेवाले देखते हैं और कला विद्युद्दीपों में ज्वलन्त हँसी हँसकर रह जाती है। वह 'दर्शन' नहीं, प्रदर्शन की वस्तु हो गई है। आज हमें प्रदर्शन को तो छोड़ना है, साथ ही नवीन वस्तुजगत् की वास्तविकता (अभावजगत्) को चिरकुरूप भी नहीं हो जाने देना है।

कला-द्वारा इस वस्तुजगत् में भी भाव-जगत् उसी प्रकार शोभित होगा जिस प्रकार ईंट-मिट्टी के मकान के सामने

स्वास्थ्यकर उद्यान। भाव-जगत्, वस्तुजगत् का स्वास्थ्य है। वस्तुजगत् यदि शरीर है तो भाव-जगत् उसका जीवन।

[७]

मध्ययुग से लेकर आज के अवशेष-मध्यकाल तक हम ऐश्वर्य्य और सौन्दर्य्य की रंगीनी की उपासना करते आये हैं। जीवन की वह फ़ैन्सी दिशा राजा-रईसों द्वारा परिचालित रही है। जिस प्रकार उनके शासन हमारे राजनीतिक नियम थे, उसी प्रकार उनकी रुचियाँ और प्रवृत्तियाँ भी हमारी पसन्द बन गई थीं। संसार दोज़ख़ बना हुआ था और उसी के मूर्च्छित स्वप्न-लोक में वैभव के स्तम्भों पर एक जन्नत बसी हुई थी। राजारईसों ने महलों में बैठकर स्वर्ग को प्रत्यक्ष पाया, साधारण लोगों ने झोपड़ों में कलपकर महलों का स्वप्न देखा। रईसी जीवन के इसी मॉडल में हमारा अब तक का जीवन ट्रेंड होता आया, फलतः कला ने भी वही रंगत ली। इसके विरुद्ध हमारा असन्तोष तब जगा जब हमने होली के कच्चे रंग की तरह उन रंगीन स्वप्नों को फू होते देखा।

आज की विवर्ण परिस्थितियों में फ़ैशन ने कला को बला बना रखा है,—यहाँ आह भी ग्रामोफोन में भरी जाती है। यह हृदय-हीन मनोरञ्जकता, यह संवेदन-हीन कलाप्रियता, मध्ययुग के स्वभाव-विशेष की एक नुमाइश दिखाकर विस्मृति के अन्धकार में विलीन हो जायगी।

आज कला के सामने वस्तुजगत् और भावजगत् ही नहीं है, बल्कि दोनों के बीच एक गहन-गर्त्त, अभावजगत् के रूप में, प्रकट हो गया है। वस्तुजगत् का जो दैन्य, भावजगत् के इन्द्रजाल को अपनी रंगीन-छत बनाकर आत्मविस्मृत था, आज वही इस इन्द्रधनुषी आकाश को लुप्त होते देखकर अपने अभाव-गह्वर में चीत्कार कर उठा है। देख रहा है कि कितनी गहरी खन्दक़ में वह जीवन-शून्य होकर पड़ा हुआ था। कला को, साहित्य को, समाज को, राजनीति को, आज सबको, इस अभावजगत् में भाव-जगत् लाने के लिए सहयोग करना है। वस्तुजगत् की मांसलता में ही भावजगत् की कला प्रतिमा रूपवान् (साकार) होगी। निरी वास्तविकता को प्रमुख बना देने के लिए नहीं, बल्कि भावजगत् को पुनर्जन्म देने के लिए, जीवन के विषम-सङ्गीत को सम पर लाने के लिए, यदि हम अभावजगत् को नवजीवन दे सकें, वस्तु-जगत् को परिपूर्ण मनुष्य-समाज का स्वर दे सकें तो हमारा भाव-जगत् (कला का मनोलोक) सचमुच ही स्वर्गीय हो जाय।

आज के अभावजगत् में भी हमारे कल्पक कलाकर चिर-अपेक्षित रहेंगे, किन्तु उनसे निवेदन यह होगा कि सदियों की जो चेतना कुण्ठित होकर आत्मलिप्सु हो गई है, उसमें आत्म-निरीक्षण का संस्कार उत्पन्न करें। आज हमारे कलाजगत् को वर्ड्सवर्थ-जैसी आत्माएँ चाहिए।

——

*

भारतेन्दु-युग के बाद हिन्दी-कविता

[१]

उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध—हरिश्चंद्र-युग ।

हमारे साहित्य में हरिश्चंद्र-युग रीतिकाल का अंतिम युग है। साथ ही, वर्तमान हिंदी-साहित्य के पृष्ठभाग का प्रथम स्तर भी वही है। वह प्राचीन और नवीन के समन्वय का युग है। वह हमारे साहित्य का पूर्ण प्रभात नहीं, बल्कि उष:काल है, जहाँ रीति-युग की साहित्यिक संध्या की अंतिम परिणति और नवीन युग के राष्ट्रीय प्रभात की पूर्व-सूचना है। हरिश्चंद्र-युग ने रीति-काल की काव्य-कला को पूर्वजों के थाती-स्वरूप अपनाया, साथ ही नवीन संपत्ति के अर्जन-स्वरूप उसने उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक और राजनीतिक चेतना से साहित्य के लिए नये उपकरण भी लिए। चूँकि नवीनता के लिए वह प्रथम प्रयास था इसलिए उस युग में साहित्य के नये उपकरण विशेष नहीं, पुराने उपकरण ही अधिक हैं—भारतेंदु तथा उनके युग के अन्यान्य साहित्यिकों की गद्य-कृतियों में।

राजनीतिक चेतना ने सभा-सोसाइटियों को जन्म देकर गद्य को प्रधान बना दिया था, फलत: हरिश्चंद्र-युग ने भी गद्य को अपना लिया। वह साहित्यिक रूढ़िवादी होने के कारण

कविता में परिवर्तन करने को विशेष तैयार न था, किंतु एक अतिथि के रूप में गद्य को अपना लेने में उसे संकोच न हुआ। साहित्य में बंकिम का उदाहरण उसके सामने था, अतएव नवीन पुकार सुनाने के लिए उसे भी कुछ संबल मिल गया। अपने काव्य से वह संतुष्ट था, निदान नवीन कला के लिए उसने नाटकों और कहानियों के रूप में कथासाहित्य को ही चुन लिया।

इसके बाद बीसवीं शताब्दी का प्रारंभ होता है, यहाँ साहित्य में प्राचीन और नवीन की संधि टूटने-सी लगती है—देश में केवल नवीन युग का प्रभात चमकने लगता है। साहित्य में, समाज में, देश में, केवल नवीनता ही नवीनता की पुकार गूँज उठती है, प्राचीनता के प्रति असंतोष हो जाता है। फलतः रीति-काल की कविता और व्रजभाषा दोनों को बिदाई दी जाने लगी। किंतु व्रजभाषा के चले जाने पर हिंदी-कविता सूनी पड़ रही थी, नवयुवकों का भावुक हृदय काव्य-विहीन कैसे रहता? इधर गद्य में खड़ीबोली सशक्त हो रही थी, नवयुवकों ने कविता में उसे ही स्थान दे दिया। यही द्विवेदी-युग है, वर्तमान खड़ीबोली की कविता उसी की देन है।

मध्यकाल के इतिहास की समाप्ति के साथ व्रजभाषा की कविता के पतझड़ में खड़ीबोली का जो नवीन वसंत पल्लवित हुआ, उसने शृंगार के शयन-कक्ष की ओर नहीं देखा। वह

नवीन अभिमन्यु सीधे राष्ट्रीय संग्राम में चला गया। जाने से पूर्व उसने अपनी संस्कृति के अनुसार प्रभु-स्तवन किया, पूर्वजों के आदर्शों का स्वस्ति-वचन श्रवण किया, और इस बार उसने अग्निबाण लेकर नहीं, मानव-परित्राण का व्रत लेकर राष्ट्र तथा साहित्य में प्रवेश किया।

हाँ तो, खड़ीबोली की कविता पहले भक्ति और राष्ट्रीयता को लेकर उद्गत हुई। हमारे काव्य में पहले सूर और तुलसी जगे, फिर तिलक, गोखले, गांधी और रवीन्द्र भी। भक्ति और राष्ट्रीयता ने शृंगार-मलिन नेत्रों को स्वच्छ करने में 'बोरिक-एसिड' का काम किया। नवीन दृष्टि प्राप्त होने पर हमारे समाज ने अपने आदर्शों के अनुसार अपना नवीन आत्मविस्तार किया। भक्ति और राष्ट्रीयता की दिशा में हमारे सार्वजनिक अभाव बोलते रहे, नवीन आत्मविस्तार में हमारे भाव भी बोलने लगे। काव्य का कंठ भक्ति और राष्ट्रीयता तक ही सीमित न रहकर दैनिक जीवन के प्रसार की भाँति मुक्त हो गया। गुप्तजी के उत्तरकालीन काव्य तथा छायावाद की रचनाएँ इसी नवोत्कर्ष के उदाहरण हैं।

द्विवेदी-युग में भी कुछ वयोवृद्ध कवि हरिश्चंद्र-युग के अवशिष्ट प्रतिनिधि-स्वरूप रहे, जिनमें उपाध्यायजी, रत्नाकरजी, और श्रीधर पाठकजी गण्यमान्य हैं। उपाध्यायजी और पाठकजी हरिश्चंद्र-युग और द्विवेदी-युग के बीच के हैं, गुप्तजी द्विवेदी-

युग और छायावाद-युग के बीच के। उपाध्यायजी ने 'प्रिय-प्रवास' द्वारा खड़ीबोली का साथ दिया; 'रस-कलश' द्वारा ब्रजभाषा का। रत्नाकरजी आजन्म ब्रजभाषा के हामी रहे। अपने अंतिम साहित्यिक-जीवन में उन्होंने खड़ीबोली के भी दो-चार पद्य लिखे, कौतूहलवश। पाठकजी ने अपनी काव्य-कृतियों द्वारा ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों का—एक तत्कालीन परिधि की सुरुचि में—साथ दिया।

[२]

सर्वश्री स्वर्गीय श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, जयशंकर 'प्रसाद', माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा', रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय, द्विवेदी-युग के आदरणीय कवि हैं। इस युग में दो प्रवृत्तियों का दर्शन मिलता है—एक में पौराणिक संस्कृति और मध्यकालीन काव्य-कला का विकासोन्मुख प्रकाशन है, दूसरी में केवल हार्दिक भावों का नवीन कला प्रस्फुटन। पहली के अंतर्गत पाठक जी, उपाध्याय जी, गुप्त जी और ठाकुर साहब हैं; दूसरी के अंतर्गत 'प्रसाद' जी, चतुर्वेदी जी, सियाराम जी, त्रिपाठी जी और मुकुटधर जी। इन दोनों प्रवृत्तियों में कुछ साम्य भी है—प्रथम विभाग के सभी कवियों ने स्वतंत्र हार्दिक भावों को भी अपनाया, द्वितीय विभाग के कवियों ने यत्किंचित् सामयिक राष्ट्रीय भावों को भी; विशेषतः चतुर्वेदी जी, त्रिपाठी जी, सियाराम

जी ने। कारण, काव्यप्रेरक गुप्त जी हैं। कविता और राष्ट्रीयता दोनों के प्रतिनिधित्व का श्रेय वर्तमान खड़ीबोली में उन्हें प्राप्त है। प्रथम विभाग के कवियों में यदि गुप्त जी अग्रणी हैं तो द्वितीय विभाग में 'प्रसाद' जी और चतुर्वेदी जी। गुप्त जी ने खड़ीबोली की स्वाभाविकता को जगाया, 'प्रसाद' जी और चतुर्वेदी जी ने उसकी भावुकता को। 'प्रसाद' जी और चतुर्वेदी जी के बाद जो नवयुवक भावुक कवि उत्पन्न हुए, उन्होंने भी खड़ीबोली का अनुराग गुप्त जी की रचनाओं से पाया, क्योंकि 'प्रसाद' जी और चतुर्वेदी जी की भावुकता के धरातल पर आने के लिए प्रथम-प्रथम गुप्त जी का काव्य-साहचर्य आवश्यक था और सच तो यह कि खड़ीबोली की कविता का व्याकरण उन्हीं की रचनाओं में था, बिना उन्हें जाने कोई आगे जा ही नहीं सकता था।

[३]

द्विवेदी-युग में खड़ीबोली की कविता के सीनियर कवि पाठक जी, उपाध्याय जी और गुप्त जी हैं।

वर्त्तमान हिंदी-कविता में नवीनता का श्रीगणेश करने का प्रयत्न पाठक जी ने किया अँगरेजी के साहचर्य से; गुप्त जी ने बँगला के साहचर्य से। किंतु पाठक जी ने स्वतंत्र रचनाएँ उतनी नहीं दीं जितनी कि गोल्डस्मिथ की अनूदित रचनाएँ। गुप्त जी ने स्वतंत्र रचनाएँ भी अधिक दीं, और माइकेल के

प्रचुर काव्यानुवाद भी। पाठक जी खड़ीबोली को निखार न सके, व्रजभाषा के मोह ने उनकी खड़ीबोली को एक मिश्रित भाषा का रूप दे दिया। उनका व्रजभाषा-मोह देखकर ज्ञात होता है कि नवीनता के नाम पर वे व्रजभाषा में अँगरेज़ी के क्लासिकल स्कूल की कला के एक प्रतिनिध थे। अँगरेज़ी शासन आज की अपेक्षा यदि मध्ययुग में ही आ गया होता तो व्रजभाषा के काव्य का जो अप-टू-डेट रूप होता, वही पाठक जी की कविता में है।

गुप्त जी ने खड़ीबोली को खड़ीबोली के रूप में ही साजा। उन्होंने खड़ीबोली को विशुद्ध, सुन्दर और प्रवाहपूर्ण बनाया। गुप्त जी ने खड़ीबोली को ओज दिया, ठाकुर गोपालशरण सिंह ने माधुर्य। गुप्त जी ने ओज के साथ ही भावों और छंदों को भी यथासंभव विविधता और विपुलता दी। ठाकुर साहब ने मध्य-काल की मर्यादा के भीतर एक नवीनता 'माधवी' में उत्पन्न की। 'माधवी' की कला इस अर्थ में नवीन है कि उसमें खड़ीबोली की भाषा और खड़ीबोली के अनुरूप एक कोमल भावना है, किंतु छंद (कवित्त और सवैया) तथा आलंबन अधिकांशत: मध्यकालीन हैं। व्रजभाषा के ये परिचित छंद और आलंबन खड़ीबोली में भी कितना संगठित हो सकते हैं, इसका निदर्शन पहले-पहल 'माधवी' द्वारा ही हुआ, यह मानो रत्नाकर जी के लिए खड़ीबोली का निमंत्रण था। कतिपय

व्रजभाषाप्रेमी किंतु खड़ीबोली के नवयुवक कवियों द्वारा 'माधवी' का अनुसरण भी हुआ। गुप्त जी द्वारा खड़ीबोली के मँज जाने पर ठाकुर साहब का सर्वाधिक सराहनीय प्रयत्न भाषा को सरल-कोमल बनाने का रहा। वृंदावन का एक मध्यकालीन भक्त बीसवीं शताब्दी के द्वार पर आकर जब अपना कंठ प्रस्फु-टित करेगा तो उसकी भाषा वह होगी जो ठाकुर साहब की खड़ीबोली में है।

द्विवेदी-युग में आवश्यकता इस बात की भी थी कि जिस प्रकार ओज को लेकर गुप्त जी ने काव्य-कला के अंतरंग और बहिरंग को नवीनता और विस्तीर्णता दी, उसी प्रकार माधुर्य को लेकर भी कोई कवि अग्रसर होता। इस आवश्यकता की पूर्त्ति आगे चलकर छायावाद-स्कूल ने की। छायावाद-स्कूल में पंतजी उसी प्रकार लोकप्रिय हुए, जिस प्रकार द्विवेदी-युग में गुप्तजी। इस पर्वतीय कवि ने ही खड़ी बोली में पहाड़ों की स्वर्गिक सुषमा भर दी, अपने हृदय के मधु से उसे मधुमय कर दिया, खड़ी बोली में रूप-रस-गंध भर दिया। यह कहने को नहीं रहा कि खड़ी बोली तो खुरदुरी है।

[४]

उपाध्याय जी का काव्यादर्श चिरप्राचीन रहा। हरिश्चंद्र-युग में, गद्य में, जो जाग्रत सामाजिक आदर्श तथा काव्य में व्रजभाषा का मध्यकालीन माधुर्य भाव था, उन्हीं दोनों की एकता

से उन्होंने 'प्रिय-प्रवास' की रचना की। उपाध्याय जी मुख्यतः भावना के कवि हैं, आँसुओं की भाँति सजल-कोमल। किंतु उन्नीसवीं शताब्दी का अंत और बीसवीं शताब्दी का प्रारंभ चिंतना से हुआ। उपाध्यायजी जिस कोमल-कांत भावना के कवि होकर चले, उस समय उस माधुर्य-भाव के लिए खड़ीबोली की भाषा मँज न सकी थी, यही कारण है कि 'प्रिय प्रवास' की भाषा और श्रीधर पाठक की रचनाओं की भाषा में खड़ीबोली की पूर्ण स्वच्छता नहीं है। चिंतना के लिए खड़ीबोली गद्य में मँज चली थी। गुप्त जी चिंतना के पथ पर चले; फलतः वे विशेष कृतकार्य हुए।

उपाध्याय जी करुणा के कवि हैं। वस्तुजगत् के कवि नहीं, बल्कि भावजगत् में प्रकृति-पुरुष के बीच व्याप्त विरह (ट्रेजडी) के कवि हैं, मानो सूक्ष्मतम सजलता के कवि।

'प्रिय-प्रवास' के बाद, उसकी भूमिका में 'वैदेही-वनवास' लिखे जाने की सूचना उनकी इसी कोमल रुचि की सूचक थी। उनका 'प्रिय-प्रवास' 'विरहिणी-व्रजांगना' ही होने लायक था, क्योंकि इस काव्य में पंचदश सर्ग ही अन्य सर्गों की अपेक्षा अधिक मर्मव्यंजक है। अन्य सर्ग या प्रसंग तो इसमें आलबाल मात्र हैं। उपाध्याय जी की करुण-वृत्ति 'प्रिय-प्रवास' जैसे महाकाव्य के बजाय एक मार्मिक खंडकाव्य की अपेक्षा रखती थी।

उपाध्याय जी ने व्यावहारिक आदर्श के लिये 'प्रिय-प्रवास' में यथार्थवाद का चित्रपट ग्रहण किया है। कृष्ण-चरित्र के अंकन में वे देश-सेवा के सामयिक आंदोलनों से प्रेरित थे। किन्तु जिस काल (उन्नीसवीं शताब्दी के अंत) की देश-सेवा से वे प्रेरित थे, उस काल का क्षेत्र परिमित था, उसी के अनुरूप उन्होंने प्रभु कृष्ण का मानव-पक्ष दिखलाया। उस समय हमारे सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाएँ नहीं आई थीं। स्त्री-शिक्षा का आंदोलन शुरू हो चुका था, फिर भी पुरुष की भाँति नारी भी कर्मक्षेत्र में अग्रसर हो, यह दूर का स्वप्न था। इसी लिए 'प्रिय-प्रवास' में हम राधा का कोई नवीन विशद चरित्रांकण नहीं पाते। उसमें राधा का सेवा-भाव माधुर्य-भाव की रक्षा के लिए है। उस युग की नारी इससे अधिक और क्या करती ? यदि उपाध्याय जी आज 'प्रिय-प्रवास' लिखते तो उसका कुछ और ही स्वरूप हो जाता।

करुणा की शांति लोक-सेवा में है, इसी लिए 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण कर्म्मठ रूप में दिखाये गये हैं। राम के जीवन में जो लोक-मंगल का भाव है, वही 'प्रिय-प्रवास' में भी दिखाने का प्रयत्न किया गया। किन्तु कृष्ण की उपासना हमारे यहाँ माधुर्य-भाव में ही की गई, अतएव उपाध्याय जी भी विप्रलंभ शृंगार में ही मार्मिक रहे। कृष्ण के लिए लोक-संग्रह जैसे सार्वजनिक पथ पर चलने का सौकर्य उन्हें पूर्ववर्ती कवियों से प्राप्त नहीं था,

इसी लिए वे कृष्ण के लोक-चरित्र को अंकुरित ही कर सके, विकसित नहीं।

गुप्त जी को राम के लोक-चरित्र-चित्रण के लिए अपने पूर्ववर्ती कवियों से भी साधन प्राप्त था। इसके अतिरिक्त 'साकेत', 'द्वापर', 'अनघ', 'यशोधरा', 'त्रिपथगा', 'स्वदेश-संगीत' उन्होंने उस युग में लिखा, जब गांधी का भारत चतुर्दिक् जग चुका था, मनुष्यता के विकास के आयोजन सचेष्ट हो गये थे; अतएव उन्होंने अपने पौराणिक काव्यों में नव-प्रबुद्ध भारत का पूर्ण उपयोग किया। उन्होंने प्राचीनता में नवीनता ला दी। वे साहित्य और संस्कृति दोनों ही दृष्टि से हिंदी के राष्ट्रीय प्रतिनिधि हुए। जिस नये चिंतित युग को 'प्रिय-प्रवास' द्वारा उपाध्याय जी ने छूना चाहा, वह गुप्त जी का ही आलंबन था। उपाध्याय जी केवल कवि हैं, गुप्त जी वैतालिक भी।

उपाध्याय जी की भाँति श्रीधर पाठक जी भी कोमल रस के कवि थे। पाठक जी की तरह ही यदि उपाध्याय जी भी अपने एकमात्र रस में रमे रहते तो आज उनके रचना-प्रसूनों का कुछ और ही मधु-गंध होता। पाठक जी भी भावना के कवि थे, उन्होंने जहाँ चिंतना को ग्रहण करने का प्रयत्न किया वहीं कविता विडंबना में पड़ गई, किंतु अपने जीवन का अधिकांश उन्होंने भावना की ओर ही लगाया। किसी कवि के लिए सब से बड़ी बात यह है कि वह आत्म-निरीक्षण करके अपने साध्य पथ

का संधान कर लें। प्रत्येक कवि की अपनी अपनी विशेष साधना होती है, उसी विशेष साधना को सफल करना ही कवि के काव्य की सफलता है।

[५]

खड़ीबोली का प्रथम यौवन नेतृत्व लेकर आया था। गुप्त जी इसके नेता थे, मस्तिष्क थे; द्विवेदी जी प्रोत्साहक और आशीर्वादक। उस समय खड़ीबोली को शक्ति देने के लिए मस्तिष्क की ही आवश्यकता थी। किंतु इस बीसवीं शताब्दी का एक दूसरा यौवन भी जागरूक रहा, यह केवल हृदय का यौवन था। इसका बाल्यकाल उपाध्याय जी के 'प्रिय-प्रवास' में है, और पाठक जी और ठाकुर साहब की रचनाओं में भी। प्रसाद और माखनलाल इसी यौवन के नवोदित अगुआ थे। मस्तिष्क-पक्ष द्वारा खड़ीबोली को सुरक्षा मिल जाने पर ही यह दूसरा यौवन गतिशील हुआ।

'प्रसाद' जी और माखनलाल जी की रचनाओं ने खड़ीबोली के उस कल्पवृक्ष में, जिसे द्विवेदीयुग के कवियों ने लगाया था, छायावाद की दो शाखाएँ बनाईं। 'प्रसाद' जी कालिदास की कला लेकर चले, माखनलाल जी मध्यकाल का माधुर्य-भाव। देश-काल की साहित्यिक प्रगति से दोनों की अभिव्यक्तियों ने नवीनता ली।

प्रसाद जी की कला आधुनिक पश्चिमीय काव्य-कला के सहयोग में है; माखनलाल जी की अभिव्यक्ति उर्दू के तर्ज़े-बयाँ में कुछ मध्यकालीन। एक की भाषा सांस्कृतिक हिंदी है, दूसरे की भाषा अंशत: हिंदुस्तानी। एक में भाव-विदग्धता है, दूसरे में वाग्विदग्धता। प्रसाद जी अधिकांशत: भावना के कवि हैं, चतुर्वेदी जी चिंतना के। चिंतना को उन्होंने एक मुक्तक-परिमाण में गुप्त जी की अपेक्षा कुछ और कवित्व दिया।

प्रसाद जी ने जिस छायावाद का प्रवर्तन किया, उसे अपनी-अपनी रसात्मकता से विविध रूप से सिंचित-पुष्पित करनेवाले कवि हैं—सर्वश्री मुकुटधर पांडेय, गोविंदवल्लभ पंत, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा इत्यादि। चतुर्वेदीजी की काव्य-धारा के अंतर्गत सर्वश्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, गोकुलचंद्र शर्मा, जगन्नाथप्रसाद खत्री 'मिलिंद', गुरुभक्तसिंह, गोपालसिंह नैपाली, 'शाखाल', 'बच्चन' इत्यादि। 'नवीन', 'मिलिंद', नैपाली, 'बच्चन' तथा सी० पी० स्कूल के तरुण कवियों ने यथास्थान दोनों स्कूलों के बीच संयोजन भी किया है, विशेषकर पंत अथवा महादेवी की कला के साथ। छायावाद के सद्य:नवयुवक-कवियों में से कोई कभी चतुर्वेदी जी की शाखा के किसी कवि के साथ, कभी प्रसाद शाखा के किसी कवि के साथ अपने मन का रंग मिलाकर चित्र लिखते हैं। इससे कला तो दूसरे कवि की प्रधान

रहती है, भाव अपना रहता है; अर्थात् भिन्न शरीर में निजी हृदय। एक अन्य प्रकार के वे कवि हैं जिन्होंने प्रसाद और चतुर्वेदी-शाखा के किसी एक या एकाधिक कवि की कला को मिश्रित कर ऐसी स्वतंत्र पदावली बना ली है जो मिश्रित होकर भी अमिश्रित-सी है। मिश्रण और अमिश्रण के अतिरिक्त ऐसे भी नवयुवक कवि हैं जिन्होंने प्रसाद ग्रुप के किसी एक मनोनुकूल कवि की ही कला को लेकर अपना हृदय अङ्कित किया है, प्रधानतः प्रसाद, पंत या महादेवी में से किसी एक की कला को। इस प्रकार के कवियों पर सबसे पहले पंत का प्रभाव अधिक पड़ा; इसके बाद गीति-काव्य के क्षेत्र में महादेवी का।

प्रसाद और माखनलाल की काव्य-धाराओं का अंतर भावना तथा चिंतना का है। जिन्होंने दोनों कूलों से सहयोग किया उन्होंने भावना और चिंतना का सम्मिलन किया। किन्तु द्विवेदी-युग से ही भावना और चिंतना का एक मिश्रण सांस्कृतिक स्वरूप में गुप्त जी की कविताओं द्वारा चला आ रहा था; अतएव, गुप्त जी के बाद, एक कवि-समूह वह है जो प्रसाद और माखनलाल-स्कूल की कला के संयोजन में नहीं, बल्कि अपनी स्वतंत्र मनोधारा से भावना और चिंतना को सम्मिलन देता आया है। ऐसे कवियों में सर्वश्री रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और इलाचंद्र जोशी हैं। जिस प्रकार खड़ीबोली को गुप्त जी ने ओज और पंत जी

ने माधुर्य दिया, उसी प्रकार इस मनोधारा में निराला जी ने ओज और जोशी जी ने ठेठ लालित्य का परिचय दिया।

भावना और चिंतना के सम्मिश्रण की आवश्यकता भाव-जगत् और वस्तुजगत् के एकीकरण के लिए पड़ती है। यह एकीकरण निराला जी ने गुप्त जी की भाँति वैष्णव संस्कृति के माध्यम से भी किया और 'युगांत' में पंत जी ने, तथा 'कामायनी' में प्रसाद जी ने भी अपने अपने ढंग से। प्रसाद जी ने उन मनोवृत्तियों का पौराणिक रूपक ग्रहण किया जो विश्व-जीवन के संचालन में सुंदर सहायक हैं, पंत ने उन चेतनाओं को जो युग की शिराओं में सद्यःसजग हैं।

[६]

द्विवेदी-युग और छायावाद-युग की कविता में कुछ भाव-साहचर्य होते हुए भी कला की व्यंजकता में अंतर था—

निशांत में तू प्रिय-स्वीय कांत से
पुनः सदा है मिलती प्रफुल्ल हो।
परंतु होगी न व्यतीत ऐ प्रिये,
मदीय घोरा-रजनी-वियोग की।

—हरिऔध

विजन निशा में किंतु गले तुम
लगती हो फिर तरुवर के,

आनंदित होती हो सखि! नित
उसकी पद-सेवा करके।
और हाय, मैं रोती फिरती
रहती हूँ निशि-दिन वन-वन,
नहीं सुनाई देती फिर भी
वह वंशी-ध्वनि मनमोहन!

—पंत

तरुशिखा पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।

—हरिऔध

तरु-शिखरों से वह स्वर्ण-विहग*
उड़ गया, खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा-नीड़ में रे किस मग!

—पंत

पूरा-पूरा परम प्रिय का मर्म मैं जानती हूँ;
है जो वाञ्छा विशद उर में जानती भी उसे हूँ।

—हरिऔध

मौन हैं, पर पतन में—उत्थान में,
वेणु-वर-वादन-निरत विभु-गान में।

---

* सायंकालिक प्रकाश

है छिपा जो मर्म उसका समझते,
किंतु फिर भी हैं उसी के ध्यान में।

—निराला

अपने सुख में मस्त जगत को
कर न तनिक भी कभी दुखी;
दुखिया का दुख वह क्या जाने
जो रहता है सदा सुखी।

—गोपालशरण सिंह

खाली न सुनहली सन्ध्या
मानिक मदिरा से जिनकी,
वे कब सुननेवाले हैं
दुख की घड़ियाँ भी दिन की।

—प्रसाद

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी-युग का पद्योन्मुख गद्य भी काव्य की ललित संज्ञा (रसात्मकता) ग्रहण करने में संलग्न रहा। उस युग का काव्योत्कर्ष छायावाद युग में गुप्त जी के 'साकेत', 'यशोधरा', इत्यादि काव्यों तथा ठाकुर साहब की 'कादंबिनी' और सियारामशरण जी की कविता-पुस्तकों में प्रकट हुआ। इन कवियों ने द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के कला-पार्थक्य को यथासंभव ऐक्य दिया।

[७]

द्विवेदी-युग के कवि द्विवेदी-युग की प्रगति से ही चले। द्विवेदी-युग की प्रगति अंतःप्रान्तीय साहित्यों के सहयोग में थी, जिनमें उन्नतिशील बँगला साहित्य नवीनता के लिए अपनी ओर विशेष आकर्षण रखता था। चूँकि खड़ीबोली का आरंभ ताज़ा था, उसके सामने रीति-काल की कविता की परंपरा का तक़ाज़ा भी चला आ रहा था, इसलिए साहित्य-क्षेत्र में द्विवेदी-युग एक विशेष प्रकार की संस्कृति और कला के बंधन से बँधा हुआ धीरे-धीरे अग्रसर हो रहा था। उसकी प्रगति एक वयोवृद्ध सुधारक की-सी थी, न कि एक नवोद्बुद्ध उद्योगी की-सी, इसी लिए उसकी मंथर गति माइकेल-काल की-सी वंगीय साहित्यिक नवीनता की ओर बढ़ रही थी। माइकेल ने अपने समय में जो कलात्मक नवोद्बुद्धता दिखलाई वह मध्यकालीन पूर्वीय और पश्चिमीय काव्य-साहित्य के आधार पर निर्मित नवीनता थी।

माइकेल के बाद वंगीय काव्य में नव-प्रवर्तन का श्रेय रवींद्रनाथ ठाकुर को है। रवि बाबू ने भी 'भानुसिंह पदावली' द्वारा मध्यकालीन परंपरा के आधार पर ही नवीनता उत्पन्न करने का प्रारंभिक प्रयत्न किया, परंतु उन्हें इससे संतोष न हुआ। उन्होंने विश्व-साहित्य के साहचर्य से आमूल परिवर्तन का महोत्सव किया। उन्होंने काव्य की आत्मा (संस्कृति, अंशतः संतों की संस्कृति) तो सूक्ष्म-रूप से भारतीय ही रक्खी,

किंतु उसका कला-शरीर (व्यंजना और शैली) रोमांटिक युग के अँगरेज़ी काव्य से ग्रहण किया। हिंदी-कविता में द्विवेदी-युग के बाद जो नवजाग्रत नवयुवक दल उदित हुआ, उसने खड़ी-बोली का संस्कार द्विवेदी-युग से पाया, कला की प्रेरणा रवींद्रनाथ से पाई, इसके बाद उसके लिए भी सप्त-सिंधु-पर्यंत विश्व-साहित्य खुला हुआ था। इस प्रकार उसने भारतीय प्रेरणाओं से पश्चिमीय साहित्य-कला का संचयन किया है।

द्विवेदी-युग की प्रगति द्विवेदी-युग के लेखकों और कवियों तक सीमित रह गई। वह युग अनुदार नहीं था, वह भी आधुनिक था, किंतु उसकी आधुनिकता क्लासिकल थी। साहित्य में इस काल की बड़ी विशेषता यह है कि उससे एक-देशीय संस्कृति को विशेष संरक्षण मिलता आया है। द्विवेदी-युग के कवियों ने पौराणिक भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रक्खा। नवीन युग का साहित्य जब कि पूर्व और पश्चिम का एकीकरण कर रहा है, द्विवेदी-युग का साहित्य पूर्वीय ही अधिक है। जिन्हें अपनी जातीयता से प्रेम है वे द्विवेदी-युग के कवियों से विशेष रस ग्रहण करेंगे, परंतु जिनके साहित्याध्ययन की प्रमुख प्रेरणा जातीयता ही नहीं, कला-विदग्धता भी है, वे दोनों ही युगों की रचनाओं से रस लेंगे।

निर्देश किया जा चुका है कि वर्तमान हिंदी-कविता में हिंदी से भिन्न साहित्यों की भी कला-प्रेरणा है। किंतु इस प्रेरणा के

मूल में भारतीयता (अपना अस्तित्व) अक्षुण्ण है; भारतीयता के क्षेत्र में खड़ीबोली की कविता मुख्यतः संस्कृत काव्य-साहित्य से लाभान्वित है, और अंशतः मध्य-काल की हिंदी-कविता से। द्विवेदी-युग के कवियों में यह भारतीयता बहुत स्पष्ट है और नवीन युग के कवियों में सूक्ष्म सूत्रवत्। मध्यकाल की जो काव्य-धारा हमारी शिराओं में संस्कृति होकर बह रही थी वह द्विवेदी-युग के कवियों में देशकाल के भीतर थी, नवीन कवियों में देश-काल से ऊपर भी। दोनों पीढ़ियों में यदि भारतीयता का सूत्र न होता तो द्विवेदी-युग के कवियों में गुप्त जी तथा ठाकुर साहब को नवीन काव्य-कला रुचिकर न होती, नवीन युग की कविता और ये दो युग आपस में एक दूसरे से अपरिचित ही रह जाते। सौभाग्य-वश ही द्विवेदी-युग ने नवीन युग में आकर एक पूर्वज की भाँति यहाँ का कुशल-क्षेम ले लिया।

अब तक की बाह्य और अंतःप्रगतियों का सारांश है यह—भारतेंदु-युग में प्रथम-प्रथम साहित्य को सार्वजनिक जागृति मिली, द्विवेदी-युग में हिंदी-कविता ब्रजभाषा से खड़ीबोली में आई, छायावाद-युग में उसे कला-विकास मिला, तात्कालिक राजनीतिक युग में कुछ नवीन रोमांटिक विचार भी।

भारतेंदु-युग की सार्वजनिकता को गुप्त जी ने आगे बढ़ाया। उधर उपाध्याय जी, पाठक जी, ठाकुर साहब, मध्ययुग के जिस

अवशेष कोमल आभिजात्य को लेकर चले आ रहे थे, उसे प्रसाद ने छायावाद का अन्तःप्रकाश दिया; पंत ने 'पल्लव' में मनोहर प्रशस्त विकास; महादेवी ने अनादि नारी-हृदय की संगीत-साधना। इन सबसे भिन्न माखनलाल ने मध्ययुग की हिंदू-मुस्लिम-मयी भावुकता का एकत्रीकरण दिया।

खड़ीबोली की कविता में निराला जी ने एक मुक्त-क्रांति की, किंतु पंत ने 'पल्लव' की कोमलता में शांति-पूर्वक ही उसे नवीन काव्य-युग से मिला दिया। निराला और पंत के छंदों में जितना अंतर है, उतना ही दोनों की कलात्मक-नवीनता के व्यक्तित्व में।

सामयिक राजनीतिक उथल-पुथल में गुप्त जी और निराला जी मध्ययुग की भूमि पर हैं; कला में प्रवर्तक होते हुए भी संस्कृति में क्लासिकल हैं। इधर पंत जी समाजवादी चेतना की सतह पर संस्कृति में रोमांटिक हैं। मानव-संवेदना, तीनों की कविताओं में है। किंतु गुप्तजी और निरालाजी की कविताओं में करुणा नहीं, दया-दाक्षिण्य है। दोनों की भिक्षुक-संबंधी कविताओं की वृत्ति एक है। यह उस युग का दया-दाक्षिण्य है, जहाँ राजा दीन प्रजा को इनायत की दृष्टि से देखता है। पंत की संस्कृति में वह संवेदना है जहाँ मनुष्य दया-दाक्षिण्य पर निर्भर नहीं, बल्कि जन्मसिद्ध मानवता का अधिकारी है। अवश्य ही गुप्त जी की संस्कृति नवीन

राष्ट्रीयता से भी ओत-प्रोत है, महात्मा जी के पथ-निर्देश में; जिससे गुप्तजी की अवसर-ग्राहिता सूचित होती है। इसके विपरीत निराला जी की संस्कृति हिंदुत्व-प्रधान है। 'जागो फिर एक बार' और 'महाराज शिवाजी का पत्र' शीर्षक कविताएँ इसके लिए द्रष्टव्य हैं।

संस्कृति के प्रचार-क्षेत्र में आकर हिंदी-कविता अनिवार्यत: गद्य भी बन गई है, गुप्त जी, निराला जी और पंत जी, तीनों की कविताओं में इसके उदाहरण हैं। ऐसे समय में जब कि निश्चित संस्कृति अभी भविष्याधीन है, हिंदी-कविता के कंठ में वह काव्य भी बनाये रखना होगा जिसके द्वारा भावी युग अपना स्वागत संगीत में ही पा सके। महादेवी जी इस ओर तन्मय हैं।

[८]

भारतेंदु-युग की भूमिका पर खड़ी बोली जब अपने प्रारंभिक प्रयास से खड़ी हुई, तब उसकी दशा दयनीय थी। उसके प्रयास में शैशव था। बीसवीं शताब्दी का विश्वदोलित युग भारत की चेतना में नवीन जागृति, नवीन स्फूर्ति, नवीन आकांक्षाओं का सृजन कर रहा था। खड़ीबोली को इसी युग के राष्ट्र और साहित्य का सजीव प्रतिनिधित्व करना था। उसके दुर्बल कंधों पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व था। हरिश्चंद्र-युग ने इस भार को कुछ हलका कर दिया था। किंतु खड़ीबोली के

सामने एक शताब्दी के जीवन का ही प्रश्न नहीं, बल्कि ब्रजभाषा की भाँति ही उसके सामने भी अनेक शताब्दियाँ हैं। फलतः उसे अपने शैशव के प्रयासों से ही एक सुदृढ़ अस्तित्व ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत होना पड़ा।

खड़ीबोली की कविता किस बाल्यकाल से वर्तमान काल तक पहुँची है, इसका परिचय उस समय की उन कविताओं से मिलता है, जिन्हें लक्ष्य कर सन् १९१६ की 'सरस्वती' में पं० कामताप्रसाद गुरु ने लिखा था—

"वे लोग (कविगण) तन और धन की सुंदरता का वर्णन करते हैं पर मन की सुंदरता का नाम नहीं लेते। राजभक्ति सिखाते हैं, पर देशभक्ति नहीं सिखाते। रण की कटाकट का वर्णन घर बैठे करते हैं, परंतु शूरता और साहस का उपदेश नहीं देते। शब्दालंकारों को छोड़, उन्हें अर्थालंकार सूझता ही नहीं।......कोई-कोई कुनैन मच्छड़ और खटमलों को ही कविता के योग्य विषय मानते हैं।"

खड़ीबोली की कविता की यह प्रारंभिक प्रगति हास्यपूर्ण अवश्य है, परंतु उसकी वर्तमान उन्नति देखकर उसके प्रति अवज्ञा नहीं होती। उस समय के उन्हीं झाड़-झंखाड़ों ने आज के कुसुमित काव्य-कानन के लिए खाद्य (खाद) का काम दिया था।

उस समय के कवियों की विफलता का कारण यह नहीं कि "रण की कटाकट का वर्णन घर-बैठे करते हैं, परंतु वे शूरता और साहस का उपदेश नहीं देते।" यदि वे उपदेश देते तो उनकी कविताओं का हद-से-हद हमें वह रूप मिलता जो आगे चलकर राष्ट्रीय कविताओं में प्रकट हुआ। वे राष्ट्रीय कविताएँ साहित्य और देश के इतिहास की वस्तु अवश्य हैं, उनका एक विशेष सामयिक मूल्य है, किंतु वे काव्य की स्थायी संपत्ति नहीं हैं। इतिहास कभी स्थायी नहीं होता, पुराण (परिपक्व-इतिहास) ही स्थायी होता है। इतिहास ही पुराण बनता है, परंतु कब? जब उसमें सांस्कृतिक बल रहता है। जिन राष्ट्रीय कविताओं में सामयिकता ही नहीं, बल्कि चिरंतन संस्कृति (शाश्वत अनुभूति) है, वे साहित्य की अचल संपत्ति हो सकती हैं। सामयिक कविताओं की विफलता का कारण उनमें उन स्थायी भावों का अभाव है, जो अपने विभाव-अनुभाव द्वारा रस-पुष्ट होकर मन को गति देते हैं। मनोगति से ही कवि कहीं भी निःशरीर भी उपस्थित रह सकता है। यह संभव नहीं कि कवि सशरीर ही सर्वत्र उपस्थित रह सके, किंतु अपनी मनोगति से वह हृदयतः अपने अभीष्ट रसलोक में उपस्थित रह सकता है, क्योंकि वह विश्व-लीला का असाधारण दर्शक है, इसी लिए कहा गया है—'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि।' साधारण जन जब खुली आँखों से ही विश्व को देख

सकते हैं, तब इसके विपरीत कवि सूरदास होकर भी वह झाँकी पाता है जो लोक-दुर्लभ है। कवि कल्पक है, उसका सत्य केवल प्रत्यक्ष (वर्तमान) तक ही केंद्रित नहीं, बल्कि वह त्रिकालदर्शी है, अपने मानसिक नेत्रों द्वारा। इसी लिए उस कल्पक की कृति कल्पांत तक अमर रहती है।

काव्य में कविकल्पना का भी एक चैतन्य अस्तित्व है। यदि कवि का मस्तिष्क कोरे पागलों की भाँति विकार-ग्रस्त नहीं है तो यह निश्चित है कि उसकी कल्पना में भी एक सार्थकता है। व्यक्ति जब कवि न रहकर साधारण प्राणी मात्र रहता है तब वह स्थूल वस्तुओं में ही व्यावहारिक उपयोगिता के कारण सत्य देखता है, अर्थात् वह एक सांसारिक सयाना बना रहता है। किंतु जिस प्रकार प्रति दिन की भोज्य सामग्रियाँ ही सत्य नहीं, उन सब के सुपाच्य से प्राप्त स्वास्थ्य सर्वोपरि सत्य है, उसी प्रकार वास्तविक जगत् की अनुभूति ही संपूर्ण सत्य नहीं, बल्कि अनुभूतियों से निर्मित जीवन ही श्रेष्ठ सत्य है। कवि की कल्पना, वास्तविक अनुभूतियों के निष्कर्ष-रूप उसी जीवन को काव्य में रस बनाकर प्रवाहित कर देती है। कवि की अनुभूति का पथ, साधारण प्राणियों के अनुभव-पथ से भिन्न होता है। साधारण प्राणी पृथ्वी-प्रदक्षिणा करके ही विश्व को जानता है, क्योंकि इसके सिवा उसके पास और कोई साधन नहीं है। किंतु कवि के पास सब साधनों से श्रेष्ठ मनःसाधन (मनोयोग) है, यही उसके लिए

टेलिविजन (दूरदर्शक यंत्र) का काम करता है, इसी के द्वारा वह श्याम की खाई हुई थोड़ी-सी मिट्टी में भी त्रिलोक का दर्शन कर लेता है।

कवि वास्तविकता की उपेक्षा नहीं करता। वस्तु-गत दृश्य जगत् उसके लिए माध्यम है—उन अदृश्य झाँकियों का आभास पाने के लिए जो अगोचर, अज्ञेय और ध्येय हैं। जो गोचर है वही सत्य नहीं, वह तो सत्य का स्थूल रूप है। जो अगोचर है वही परम सत्य है। हम जब बोलते हैं, हमारी वाणी का कोई रूप नहीं दिखाई पड़ता, किंतु शरीर की अपेक्षा वह स्वर ही अधिक सत्य है, क्योंकि हम देखते हैं, बोलती बंद होने पर शरीर मृत हो जाता है। हमारे स्वरों की भाँति चारों ओर के वायुमंडल में अदृश्य चेतन भाव तैरते रहते हैं। कवि उन्हीं को ग्रहण कर हमारे लौकिक जीवन को अमृत देता है। वैज्ञानिक जब ग्रामोफोन के रेकर्ड पर अदृश्य स्वरों को उतार देता है तब हम उसे सत्य मान लेते हैं, किंतु कवि जिन अदृश्य चेतनाओं को काव्य में रूप-रंग और स्वर देता है, उसे सत्य मानने में सहृदयता की कृपणता क्यों? वैज्ञानिक तो लोक की बात को ही लोक में उतारता है; उसका ग्रामोफोन केवल ग्रामोफोन है। किन्तु कवि की हृदयतंत्री उन लोकातीत स्वरों को भी गीतिमान कर देती है, जो वैज्ञानिक की क्षमता के सर्वथा परे हैं। दूरदर्शी कबीर ने उन्हीं स्वरों को 'अनहद नाद' (अनाहत नाद)

या अवाद्य-संगीत अर्थात् बिना बजाया हुआ गान कहा था। इसे हम आकाश-गान भी कह सकते हैं।

कवि के ध्येय को हम चाहे जीवन का चरम सत्य कह लें, चाहे आराध्य की झाँकी, चाहे हृदय का द्रवण, चाहे काव्य का रस; प्रत्येक स्थिति में वह हमीं-जैसा अस्तित्वमय है। कवि रवींद्रनाथ ठाकुर के शब्दों में—"हमारी इन सब बातों के कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे भावों की सृष्टि कोई खामखयाली चेष्टा नहीं है। यह वस्तु-सृष्टि के समान ही अमोघ नियमों के अधीन है। प्रकाश के जिस आवेग को हम बाह्य जगत् के समस्त अणु-परमाणुओं में देखते हैं, वही एक आवेग हमारी मनोवृत्तियों के अन्दर प्रबल वेग से कार्य्य कर रहा है। इसलिए जिन आँखों से हम पर्वत-जंगल, नद-नदी, मरुभूमि और समुद्र को देखते हैं, साहित्य को भी उन्हीं आँखों से देखना पड़ेगा—यह भी हमारा-तुम्हारा नहीं है—यह भी निखिल सृष्टि का एक भाग है।"

काव्य में जब ध्येय गौण रहता है, माध्यम प्रधान; तब कविता में वस्तु-जगत् के उपकरणों का प्राधान्य हो जाता है, काव्य अख़बारी दुनिया के समीप आ जाता है—उसमें कवित्व-शून्य इतिवृत्त अधिक रहता है। द्विवेदी-युग की प्रारम्भिक कविता में इतिवृत्त के लिए लौकिक उपकरणों का इतना अभाव हो गया था कि कुनैन, मच्छड़ और खटमल भी अभाव की पूर्ति करने

को प्रस्तुत थे। सच तो यह है कि खड़ीबोली की कविता अपने शिशु-पाठ से ही छायावाद की कविता की ओर अग्रसर हो सकी है, उसमें शनैः शनैः ही सरसता, गंभीरता और मार्मिकता आती गई है। खड़ीबोली के उस आरंभिक काल में लौकिक उपकरणों के माध्यम की विपुलता से हिंदी-काव्य को अपनी सुदृढ़ता के लिए ज़मीन मिली, उसी ज़मीन पर हिंदी कविता खिली है। यदि वह पृष्ठभाग न मिलता तो आज की कला कली ही रह जाती। द्विवेदी-युग की कविता ने जिस प्रकार बाह्य विषय लिये, उसी प्रकार उसने कला के बाह्य अंगों, शब्द, छंद, अभिव्यक्ति इत्यादि को सुडौल बनाने में भी अपने अनुरूप सत्प्रयत्न किया। खड़ीबोली की कविता में प्रारंभिक कार्य तो शरीर-निर्माण का हुआ, जब इस ओर से कुछ निश्चिंतता प्राप्त हुई तो उस युग के विशिष्ट कवियों ने इसकी प्राण-प्रतिष्ठा की ओर भी सजग दृष्टिपात किया। उनके मनोहर प्रयासों से खड़ीबोली जी गई, आज के नव-नव कवि उसी जीवित खड़ीबोली में अपनी नई नई साँस फूँक रहे हैं।

छायावाद की कविता द्वारा हम उनकी इन साँसों से परिचित हुए हैं। किंतु इसके आगे एक और संसार है, जो है तो राजनीतिक किंतु वह हमारे साहित्य में उसी प्रकार प्रभाव डालेगा, जिस प्रकार राष्ट्रीय चेतना ने हमारी कविता पर अपना प्रभाव छोड़कर उसे राष्ट्रीय भी बना दिया था। वह संसार भावी के गर्भ में है।

[९]

सन् ५७ के ग़दर के बाद, १९०५ में वंग-भंग को उपलक्ष्य बनाकर जिस प्रकार आधुनिक राजनीतिक क्रान्ति का केन्द्र बंगाल बना, उसी प्रकार आधुनिक साहित्यिक क्रान्ति की केन्द्रभूमि भी वंगभूमि ही बनी। किन्तु अन्ततः राजनीतिक क्षेत्र में बंगाल का उग्र क्रान्ति-पथ ही स्वदेश और साहित्य का प्रतिनिधि नहीं बना। क्रान्ति का जोश तो किसी गंभीर प्रतिनिधित्व की भूख मात्र है। फलतः, राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गान्धी ने स्वदेश का प्रतिनिधित्व किया, कला-क्षेत्र में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने साहित्य का। यद्यपि उग्र क्रान्तिकारी दल और उग्र क्रान्ति-कारी साहित्य इन महानुभावों के जीवन-काल में भी अवशिष्ट रहे, किन्तु वे विशाल भारत के प्रतिनिधि न हो सके। गान्धी और रवीन्द्र ने ही स्वदेश और साहित्य को विश्व-जीवन और विश्व-साहित्य के पूर्वीय और पश्चिमीय क्षितिज तक उठा दिया। खड़ीबोली ने इन्हें ही अपनाकर नवयुग का नवजीवन ग्रहण किया।

आज बीसवीं शताब्दी बदलकर २१वीं शताब्दी होने जा रही है। १९वीं शताब्दी जिस प्रकार २०वीं शताब्दी की पूर्वभूमि थी, उसी प्रकार २०वीं शताब्दी अभी से २१वीं शताब्दी के लिए पृष्ठभूमि बन गई है। २१वीं शताब्दी अपने प्रारंभ से ही तेजोदीप्त तारुण्य लेकर आयेगी, न कि

अविकल बचपन। उस शताब्दी का क्या स्वरूप होगा, समय इसी का उत्तर देने के लिए व्यग्र गति से दौड़ रहा है।

निःसन्देह आज के विश्व की हलचलों का प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ा है, फलतः हम एक नये दृष्टिकोण से सोचने-बोलने लगे हैं। युग-युगान्त से हमारे काव्य-साहित्य में छायावाद और रहस्यवाद चला आ रहा था, वर्त्तमान राजनीतिक युग में स्वदेश और साहित्य में समाजवाद भी चर्चित हो रहा है। हमारे साहित्य की रहस्यवादी प्रगति पुरातन होते हुए भी उसी प्रकार आधुनिक है, जिस प्रकार अनन्त प्रकृति अनादि होते हुए भी दैनिक रश्मियों में आधुनिकतम होकर प्रकट होती आई है। समाजवाद विदेश से आया है, उसे हम कहाँ तक स्वीकार करेंगे, यह भविष्य की बात है, किन्तु समाजवाद जिस मानव-सौजन्य का राजनीतिक (बाह्य) स्वरूप समझा जाता है, रहस्यवाद उसी का धार्म्मिक (आन्तरिक) रूप कहा जा सकता है। धार्म्मिकता सिर्फ़ किसी मज़हबी संज्ञा में ही सीमित नहीं, वह तो हृदय की एक सद्वृत्ति है जो हमें सामाजिक संवेदना के लिए सहृदय बनाती है। मज़हब तो धार्म्मिक संस्कृति के मृत्पात्र (आयतन) मात्र हैं। यदि उसमें सांस्कृतिक सुधा न हो तो समझ लेना चाहिए कि वह ढाँचा-भर रह गया, उसमें का मनुष्य मर गया। जब हम किसी पीड़ित के दुःख से द्रवीभूत होकर संवेदित होते हैं तब उतने क्षण के लिए मज़हबी न

होते हुए भी धार्मिक अथवा सहृदय हो जाते हैं। सहानुभूति का वह क्षण क्षणिक न रह जाय, इसी लिए रहस्यवाद उसे स्थायित्व देता है। रहस्यवाद आन्तरिकता को विश्वरूप में, विश्वसंवेदना में, विश्वव्याप्त चेतना में जगाता है। यदि समाजवाद के अन्तराल में रहस्यवाद (आध्यात्मिक चेतना) भी अन्तर्हित हो तो रहस्यवाद का उससे वैपरीत्य नहीं।

हाँ, तो विश्व की हलचलों के कारण हमारी कविता भी नई भूमि पर जा रही है, इस भूमि को हम पीड़ित मनुष्यता की भूमि कह सकते हैं। हमारा रहस्यवाद कभी उल्लसित मनुष्यता की सच्चिदानन्द-भूमि में था, अब वह करुणाकर की करुणा-भूमि में जा रहा है।

आनन्द ही हमारी संस्कृति का ध्रुवध्येय रहा है, करुणा की भूमि से हम उसी सच्चिदानन्द-भूमि में जाकर इष्टलाभ करते रहे हैं। संसार के अन्य सभी रसों की समाप्ति के बाद शान्त रस में ही हम उस आराध्य की झाँकी उतारते रहे हैं। किन्तु आज का युग अशान्त है। अशान्त युग की कविता दो रसों में बहती है, एक करुणा, दूसरे वीर। सम्प्रति हमारे देश की राष्ट्रीयता को रक्तपात अभीष्ट नहीं, अतएव हम वीर रस को शस्त्रों की तीक्ष्ण शिखाओं में ज्वलन्त नहीं देखते। हम तो करुणा को युद्धवीर होकर नहीं, कर्म्मवीर होकर अग्रसर करना चाहते हैं। हम सैनिकों की यौद्धिक प्रवृत्ति

न लेकर एक स्वयंसेवक जैसी रक्षा और सेवा का भाव लेकर चलना चाहते हैं। जैसी क्रिया होगी वैसी ही प्रतिक्रिया होगी। रक्तपात की प्रतिक्रिया रक्तपात है, इतिहास से इसकी निस्सारता देखकर भी हम उसे कैसे अपना सकते हैं। फलतः पीड़ित मनुष्यता की भूमि पर हमारी कविता मानवी संवेदना को ही जगा रही है, जीवित-मृतकों को जीवन का अमृत मन्त्र दे रही है।

हिन्दी-कविता में आज जो सामूहिकता के लिए परिवर्त्तन हो रहा है, इसका कारण विश्व-व्याप्त ट्रेजडी है। यह ट्रेजडी का युग है। मध्ययुग में भी ट्रेजडी थी, किन्तु उस युग की ट्रेजडी नैतिक (सांस्कृतिक) पराधीनता से उत्पन्न हुई थी, जब कि वर्त्तमान ट्रेजडी राजनैतिक (आर्थिक) पराधीनता से उत्पन्न है। मध्ययुग का साम्राज्यवाद मानसिक स्वतन्त्रता के अवरोध के लिए जनता के कण्ठ पर १४४ दफ़ा लगाये हुए था, फलतः जनता न तो सामाजिक उन्नति कर सकती थी, न मानसिक, न राजनीतिक। केवल कुछ आर्थिक विकास संभव था। उस समय वैभव केवल सम्राट् के राज्यकोष में ही सीमित नहीं था, वह देश के अन्यवर्गों में भी पहुँचता था। साधारण जनता यद्यपि ऐश्वर्य्यवान् न थी, किन्तु खाने-पीने से ख़ुशहाल थी।

मध्ययुग में जो नैतिक दुर्भिक्ष था, जो सामाजिक पराधीनता थी, उसी के भीतर से उस युग के कवियों को अपने जीवन के लिए कोई न कोई साँस लेनी ही पड़ी और उन्हें उस अवरुद्ध

ट्रेजडी में ही एक कमिडी पैदा करनी पड़ी, वही कमिडी शृंगारिक कविताओं में प्रकट हुई क्योंकि जीवन शारीरिक ही हो गया था। शायद ही कोई सांसारिक इस कमिडी को नापसन्द करता। किन्तु उस युग की ट्रेजडी मर नहीं गई, वह भक्ति-रस में सराबोर होकर सूर, तुलसी तथा अन्य भक्तों की वाणी में प्रकट हुई। इस प्रकार हिंदी-कविता शृंगार के अतिरिक्त धर्म्म और मोक्ष की ओर भी बढ़ी। अर्थ को नहीं, धर्म्म को प्रधान बनाकर उस युग के अभाव-अभियोगों का पौराणिक संकेत ग्रहण किया गया था। किंतु यह सब कुछ यथाकाल की आर्थिक निश्चिंतता की भूमिका पर निर्भर था। वर्तमान युग में वह आर्थिक निश्चिंतता छिन्न-भिन्न हो गई। फलतः आज की ट्रेजडी आर्थिक चिन्ता से जर्जरित जीवन के अनेक उत्पीड़नों के रूप में प्रकट हुई—कहीं श्रमजीवियों की कातर पुकार में, कहीं अशन-वसन-विहीन गृहस्थों के आर्त्तनाद में।

मध्ययुग की अवरुद्ध सांस्कृतिक ट्रेजडी और वर्तमान युग की अनवरुद्ध आर्थिक ट्रेजडी का बीसवीं शताब्दी में जमघट हो गया। दूसरे शब्दों में, मध्ययुग की विलासिता और आधुनिक युग की निर्धनता (जो मध्ययुगीय आर्थिक व्यवस्था और वर्त्तमानकालीन यान्त्रिक दुरवस्था का परिणाम है) का हमारा देश म्यूज़ियम बन गया। अतएव एक अभूत-पूर्व कमिडी की सृष्टि के लिए आज एक सुव्यवस्थित सार्वजनिक

जीवन को जन्म देने का सत्प्रयत्न हो रहा है—सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों के रूप में।

मध्ययुग में जो शृंगार-काव्य और भक्ति-काव्य की धारा थी, वह युगलधारा आज भी बह रही है। शृंगार-काव्य आज के कलानुरूप आज की प्रेम-कविताओं में है। भक्ति-काव्य हमारे वर्तमान साहित्य में विरल, किन्तु बापू के उन कल्याणपूर्ण रचनात्मक कार्य्यों में घनीभूत है, जिनमें उन्होंने अपने व्यावहारिक वेदान्त को मूर्त्त किया है। एक (शृंगार) भाव की दिशा में है, दूसरा (भक्ति) अभाव की दिशा में। आज का अभाव नैतिक और राजनैतिक (आर्थिक) दोनों ही हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र में आकर हिंदी-कविता प्रभाती बनी है। हरिश्चंद्र-युग से हम यह प्रभाती सुन रहे हैं। आज हिंदी-कविता उस मंजिल पर है, जहाँ भावी जीवन के निश्चित पथ का चुनाव हो रहा है।

——

नवीन मानव-साहित्य

[१]

कल्पना,—काव्य की ही वस्तु नहीं, अपितु वह हमारे इस भौतिक जीवन की भी सञ्जीवनी है। शैशव के स्वप्नों को भूल कर प्रौढ़तम प्राणी हो जाने पर भी हम कल्पना के साथ 'कुट्टी' नहीं कर लेते। घोर-से-घोर वस्तुवादी वैज्ञानिक भी, दिन-भर के अविश्रान्त परिश्रम के बाद, जीवन के किसी एकान्त में बैठकर, जब किसी क्षण अपने अबोध शैशव को स्मरण करता होगा, हृदय के भोलेपन को जगाता होगा, तब उसकी आँखों से उस अतीत स्वर्ग के अभाव में ममता की दो बूँदें ढुलक ही पड़ती होंगी। सच पूछिए तो अतीत को स्मरण करना एक ऐसी भावुकता है, जो प्रत्येक प्राणी को मूककवि बना देती है। जब तक हम बचपन को स्मरण करते रहेंगे, तब तक हम कल्पना को भी प्यार करेंगे; यही तो हमारे शुष्क जीवन को सरस-स्निग्ध बनाये रखती है, यही तो कभी निद्रा बनकर, कभी स्वप्न बनकर हमारे आक्लान्त हृदय को कोमल विश्राम दे जाती है।

काव्य में यही कल्पना राजमहिषी की भाँति अधिष्ठित रहती है, यथा सरोवर के हृदय में इन्द्रधनुषी आभा। जहाँ का जीवन सरल प्रकृति के क्रीड़ा-क्रोड में खेलता रहता है, वहाँ काव्य की

इसी इन्द्रधनुषी शोभा से मानव-हृदय अनुरञ्जित रहता है। परन्तु आज का मनुष्य किसी सरोवर के तट पर बसा हुआ केवल हरित उद्यान का गीतखग नहीं, बल्कि वह अट्टालिकाओं के कठोर प्राचीरों से घिरा हुआ विवश प्राणी भी है। आज तो प्रकृति की प्रतिद्वन्द्विता में मनुष्य नामक जन्तु ने अपना एक अलग संसार बना रखा है। काशी के धरहरे पर से देखा हुआ दृश्य इसी पार्थक्य का सूचक है—

देखो वह बन की हरियाली आ रही इधर अञ्चल पसार;
रुक गई किन्तु यह रेत देख, रह गई राह में उसी पार।
सामने महल हैं बड़े-बड़े जिनके भीतर और ही लोक;
हैं जहाँ बन्द जग के सुख दुख, करुणा, उमङ्ग, आनन्द शोक॥

—नैपाली

प्रकृति को भी अपने राज्य की प्रजा बनाये रखने के लिए मनुष्य ने अपने नगर-रूपी विराट् कारागार के बीच-बीच में पार्क, सरोवर, हैंगिंग गार्डन बना रखे हैं। परन्तु यह तो प्रकृति से विद्रोह करने में उसकी हार है। उसके बिना वह खुली साँस ले ही नहीं सकता, फिर भी वह हठीला मानता नहीं। उसे मनाना होगा, कवि ही उसे मना सकता है। परन्तु कैसे? इस सयाने शिशु (लोक-पटु मानव-समुदाय) को केवल इन्द्रधनुषी आभा (कल्पना) से नहीं बहलाया जा सकता, वह तो प्रकृति के सरलहृदय प्राणियों को ही सुषमित

कर सकती है। लौकिक मानव-समुदाय तो अपनी विषमताओं से उत्पन्न सन्तापों से उत्तप्त है, इसे केवल शोभा-सुषमा एवं आभा नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष शीतलता भी चाहिए। अतएव काव्य की कल्पना जब संसार की कठोर छत पर चाँदनी की तरह बरस-बरसकर सन्तप्त हृदयों को जुड़ाने लगती है तभी वह लोक-जीवन की भी सञ्जीवनी बन जाती है।

[२]

प्रकृति-सुषमा के सुकुमार कवि श्रीसुमित्रानन्दन पन्त की काव्य-कल्पना, विश्व-वेदना में तप रही है। वहाँ चाँदनी—

जग के दुख-दैन्य शयन पर
यह रुग्णा जीवन-बाला
रे कब से जाग रही वह
आँसू की नीरव माला !

—'गुंजन'

'पल्लव' और 'गुञ्जन' उनके भावाकाश के दो प्रतिनिधि हैं—दोनों ही में कवि ने इस संसार से ऊपर उठकर जीवन के गीत गाये हैं; किन्तु दोनों में बृहत् अन्तर है—'पल्लव' में इन्द्र-धनुष की रङ्गीन आभा है, 'गुञ्जन' में चाँदनी की उज्ज्वलता भी। एक में भावप्रवण हृदय का नयन-चित्र है, दूसरे में विश्व-प्राणी का यत्किञ्चित् व्यथित सङ्गीत भी। 'पल्लव' के चित्र आँखों में सौन्दर्य-सृष्टि करते हैं, 'गुञ्जन' के जीवन-गीत समाज

को सजग करने का प्रयत्न करते हैं। पन्त के यौवन ने 'पल्लव' में प्रकृति-सुलभ सौन्दर्य को प्रधानता दी है, 'गुञ्जन' में यत्र-तत्र कवि की पौढ़ता ने यौवन के चञ्चल पदों के विदा होने पर, लोक-जीवन की गूढ़ समस्या को समझना चाहा है। कवि पहले केवल भावशील था, संसार की स्थूल मिट्टी में उसके पैर जमे नहीं थे; अब वह वटवृक्ष की भाँति भूतल पर स्थिर होकर इस वस्तुजगत् को देखना चाहता है। 'पल्लव' के बिल्लौर-प्रतिबिम्ब में कवि के संसार को देखनेवाले दर्शक, 'गुञ्जन' और 'ज्योत्स्ना' की कला में जीवन-चिन्तन को देखकर उतना मोहित न होंगे। इसका कारण 'ज्योत्स्ना' में निर्दिष्ट है—"मनुष्य-जाति को सदैव से सौन्दर्य-विभ्रम, प्रेम का स्वर्ग, भावनाओं का इन्द्रजाल और दारुण दुर्गम वास्तविकता का विस्मरण अथवा भुलावा पसन्द रहा है।" परन्तु मनुष्य को वस्तुजगत् पर भी दृष्टिपात करना ही पड़ता है। कवि जानता है—"काव्य, सङ्गीत, चित्र, शिल्प द्वारा मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानवी मूर्तियों को स्थापित करना है।"—इसी आत्मबोध ने 'पल्लव' के कवि को लोक-जीवन की ओर प्रेरित किया है। लोक-जीवन में आकर भी कवि वस्तुजगत् की फोटोग्राफी नहीं करता; बल्कि वह एक स्वतन्त्रचेता कलाकार की तूलिका से ही उसे उद्भासित करता है। लोक-जीवन के भीतर 'ज्योत्स्ना' की भाँति ही वह अपनी आत्मा का प्रकाश विकीर्ण कर उसे

अपनाता है। इसी लिए उसकी इधर की कविताओं में जहाँ कहीं कोमलता-मधुरता है उसमें उसकी कविता की चाँदनी है और जहाँ कहीं खुरदुराहट है, वहाँ है वस्तुजगत् की गद्य-वास्तविकता।

'ज्योत्स्ना' पन्त जी के जीवन-सम्बन्धी विचारों की कुञ्जी है, आधुनिक जगत् के विविध विचारों की पैमाइश है। उसमें पन्त का आत्मचिन्तन और लोक-निरीक्षण निहित है। उसके गद्य के गुरुगहन वाद्य में गीतों की झनकार और चित्रों का जमघट है। विचार प्रधान कृति होने के कारण 'ज्योत्स्ना' उतनी सुगम नहीं हो सकी है, जितनी पन्त की कविताएँ; तथापि उसके रूपकमय रहस्य को समझने पर वह सम्पूर्णतः मनोरम लगने लगती है। 'ज्योत्स्ना' में कवि ने अपने वर्तमान लौकिक और साहित्यिक दृष्टिकोण को यों अभिव्यक्त किया है—

"हम जीवन को सार-रूप में ग्रहण कर सकते हैं; संसार-रूप में नहीं। जीवन के इस सार से, सत्य के इस सारल्य से, मनुष्य को मिलाकर, कला उसे सबसे मिला देती है। यही सत्य का एकत्व, काव्य का लोकोत्तरानन्द रस है।"

''विगत युग में कला को कला के लिए महत्त्व देते आये हैं। अब हम जानते हैं कि कला सत्य नहीं, जीवन ही सत्य है। कला में जो कुछ सत्य है, वह उसके जीवन की परछाईं होने के कारण; कलाकार या कवि जीवन को विश्व के आविर्भाव-

रूप में ही सीमित नहीं रखता, वह उसके दर्शन समस्त विश्व में व्याप्त जीवन के सत्य स्वरूप में करता है। सत्य ज्वाला है, उसके स्पर्श से समस्त भेदभावों के विरोध भस्म हो जाते हैं। कला अपना अस्तित्व जीवन में लय कर जब तक उससे तदाकार नहीं हो जाती, उसके मूर्त हाथ सत्य की ज्वाला को नहीं पकड़ सकते। सर्वोच्च कलाकार वह है, जो कला के कृत्रिम पट में जीवन की निर्जीव प्रतिकृतियों का निर्माण करने के बदले अस्थि-मांस की इन सजीव प्रतिमाओं में अपने हृदय से सत्य की साँसें भरता है, उन्हें सम्पूर्णता का सौन्दर्य प्रदान करता है, उनके हृदय-प्रदीप को जीवन के प्रेम से दीप्त कर देता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त का कला और जीवन को देखने का दृष्टिकोण बदल गया है और वे आधुनिक युग की समाजवादी विचार-धारा में सन्तरण कर रहे हैं।

[३]

मनुष्य अपने सरल मौलिक जीवन को भूलकर इतना आत्म-विस्मृत हो गया है कि वह मनुष्य है भी या नहीं; अथवा वह जो कुछ है, क्या है, किस लिए है, इन सब बातों की ओर उसका ध्यान नहीं। गर्द-गुबार से भरे हुए यन्त्र की भाँति वह संसार की सड़क पर आता-जाता रहता है और इसी को जीवन समझता है। ऐसे जीवन का सत्य, ऐसे जीवन का साहित्य कला के हाथों सज-धजकर हमारे सामने आता रहा है। पर

मनुष्य के खोये हुए विवेक को जगाना, उसके आत्म-रूप—(मनुष्य-रूप)—का ध्यान दिलाना आज पन्त जैसे कवियों को अभीष्ट है। जो कला मनुष्य को मनुष्य के लिए सुलभ न कर उसे मानसिक अकर्मण्यता एवं आत्मप्रवञ्चना के भुलावे में रखती है, उसमें नवचेतन कवि को जीवन का सत्य नहीं दिखाई पड़ता, वह कला तो साहित्यिक जगत् में लालसाओं की एक वैसी ही क्रीड़ा है, जैसी कि सामाजिक जगत् में सम्पन्न व्यक्तियों की मनोविनोदिता। और कदाचित् पन्त जी भी इसे मध्यकाल की रईसी रुचि मानते हों। अब तक के जीवन और साहित्य के प्रति कवि के हृदय में विरक्ति जग पड़ी है—

हाय, मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !

* * *

शव को दें हम रूप-रङ्ग आदर मानव का,
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का !

—'युगान्त'

प्रेम के नाम पर हम एक युग से एक ताजमहल को कला का सम्मान देते आये हैं; किन्तु कला की जीवित विभूति—मनुष्य—को इस आत्मविनोदी जगत् में कोई स्नेह नहीं। अपनी तूलिका से हम कितने ही मृत व्यक्तियों को रूप-रङ्गों से आकार-प्रकार देकर कला की प्रदर्शिनियों में उपस्थित करते हैं, कलाविद् उन्हें पुरस्कृत करते हैं; किन्तु एक क्षुधातुर मनुष्य जो

जीवित-मृत है, जिसका कमनीय मुख रोग-शोक से विवर्ण हो गया है, उसे हम भूलकर भी नहीं देखना चाहते। तूलिका से अङ्कित उसके काग़ज़ी चित्र को हम कला की अमूल्य सम्पत्ति समझ लेते हैं; किन्तु विधि की इस सजीव कला की दुनियाँ की हाट में क्या क़ीमत है! हम वास्तविकता की अपेक्षा मिथ्या को अधिक चाहते हैं, वास्तविकता (सत्य) के साथ एकतार होने के लिए तो हमें आत्मसाधना की कठिन आवश्यकता पड़ती है, मिथ्या के साथ तद्रूप होने के लिए चिरअभ्यस्त् आत्मप्रवञ्चना से काम चल जाता है। जीवन के प्रति, साहित्य के प्रति, कला के प्रति, मनुष्य का यह कितना विघातक ढोंग है। इसी लिए कवि ने आगे कहा है—

मानव ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति !

यह मध्यकालीन अर्थशास्त्र से अनुप्राणित समाज का कला-प्रेम है और यह कला-प्रेम सामाजिक अव्यवस्था की ओर से सर्व-साधारण को उसी प्रकार विमुख रखता है जिस प्रकार महन्तों का धर्म्म-प्रेम।

यही ढोंग, यही प्रवञ्चना, यही विडम्बना, यही कृत्रिमता देखकर ही तो कवि की आत्मा पुकार उठी है—

जिससे जीवन में मिले शक्ति,
छूटें भय, संशय, अन्ध-भक्ति,

मैं वह प्रकाश बन सकूँ नाथ !
मिल जावें जिसमें अखिल व्यक्ति ।

* * *

पाकर प्रभु ! तुमसे अमर दान
करने मानव का परित्राण
ला सकूँ विश्व में एक बार
फिर से नवजीवन का विहान ।

—'युगान्त'

वह ललित कल्पनाओं का कोमल कवि पन्त आज यह कैसा नूतन राग गा रहा है ? यह तो सङ्गीत का सुरीला स्वर नहीं; निपीड़ित चेतन का करुण-रव है । आज जीवन के प्रसाद (कला) के रूप में जो नशा दे दिया गया है हम उसे हटाकर कला का जीवनदायक रूप ग्रहण करना चाहते हैं । इसी लिए पन्त ने भी कविता के रेशमी साज-बाज को हटाकर उसे खादी का परिधान पहना दिया है । जीवन का मध्ययुगीय रेशमी साज-बाज तो आधुनिक युग में ट्रेजडी का रंगीन शृंगार हो जायगा, करुणा को होली के रंग से रँगना हो जायगा ।

जीवन के साज के साथ ही कविता के तार का भी बदल जाना स्वाभाविक ही है । कवि जब आत्मप्रयोग करता है, तभी उसमें उसके काव्य में, जीवन की नवचेतन अनुभूति होने लगती है । 'कवि का सबसे बड़ा काव्य स्वयं कवि है,'—ठीक उसी

प्रकार, जिस प्रकार गुलाब का सबसे बड़ा सौन्दर्य स्वयं गुलाब है; क्योंकि उसके कृतित्व का सौरभ उसी में अन्तर्हित रहता है।

[४]

'ज्योत्स्ना' में कवि ने एक स्वप्न देखना चाहा है—"संसार से यह तामसी विनाश उठ जाय, और यह 'सृष्टि' प्रेम की पलकों में अपने ही स्वरूप पर मुग्ध, सौन्दर्य का स्वप्न बन जाय।"—इसी भावना को इस रूपक में कवि ने मूर्त रूप दिया है, इसी भावना को कवि ने 'गुञ्जन' में गीतिमय किया है। इसी भावना को प्रत्यक्ष स्वप्न बनाने के लिए उसने 'युगान्त' में मानव को उद्बोधन दिया है।

सृष्टि का यह सुन्दर स्वप्न क्योंकर प्रत्यक्ष हो सकता है?—जिन कारणों से वह अप्रत्यक्ष है, उन्हें दूर हटाकर। 'ज्योत्स्ना' के एक पात्र के शब्दों में—"समस्त विश्व सत्य और सदाचार के नियमों से शासित है, मनुष्य अपवाद होकर नहीं रह सकता। विगत युग (वर्तमान युग) में शासक और शासितों में सामञ्जस्य नहीं रहा; क्योंकि वह सत्य और सदाचार का नहीं, शक्ति और स्वत्वाधिकार के शासन का युग था। राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, लोकतन्त्र आदि सभी प्रकार के शासन, सत्य एवं सदाचार के अभाव से, केन्द्रभ्रष्ट एवं लक्ष्यहीन हो गये थे।...

जिस प्रकार समुद्र की मुखर लहरें असंख्य स्वरूप एवं स्वरों की स्वतन्त्रता पा लेने पर भी समुद्र के अन्तस्तल को अनन्त शान्ति की वाणी नहीं दे सकतीं, उसी प्रकार अपने ही को समझने में अक्षम, अशिक्षा-पीड़ित, भिन्न-भिन्न स्वार्थों के झोंकों में उठते-गिरते, मिलते-बिछुड़ते, लोक-समूह भी शान्ति के स्थापन एवं एकान्त-श्रेय के संरक्षण में असफल प्रमाणित हुए। बाजे के समस्त परदों को एक साथ ही दबा देने से, या कुछ चुने-चुने परदों पर बेसिलसिले हाथ फेर देने से ही राग का जन्म नहीं होता; राग के अनुरूप परदों को बजाने से ही राग का स्वरूप प्रकट हो सकता है। इसी प्रकार चाहे राजतन्त्र हो अथवा प्रजातन्त्र, मानव-सत्य के नियमों से परिचालित होने पर ही वे मनुष्य जाति की सुख-समृद्धि के पोषक बन सकते हैं। सच तो यह है, मनुष्य को शासन-पद्धति अथवा उसके नियमों का आविष्कार नहीं करना है, उसे केवल सत्य की जिस शासन-प्रणाली से समस्त विश्व चलता है, उसका अन्वेषण कर उसे पहचान भर लेना है। गत युग—('ज्योत्स्ना' की दृष्टि से वर्तमान युग; क्योंकि कल्पना द्वारा एक मनोरम भावी युग में पहुँचकर लेखक ने वर्तमान युग की विषमताओं का अवलोकन किया है)—गत युग अपने को बाह्य सामञ्जस्य देने की चेष्टा करता रहा, जब कि उसे एकमात्र आन्तरिक सामञ्जस्य स्थापित करने की आवश्यकता थी।" और "मानव-जीवन के बाह्य क्षेत्रों

एवं विभागों को सङ्कठित एवं सीमित कर, अपने आन्तरिक जीवन के लिए उदासीन होकर मनुष्य अपनी आत्मा के लिए नवीन कारा निर्मित कर रहा है।" 'ज्योत्स्ना' के इन विचारों में हम देखते हैं कि पन्त भाव-जगत् से वस्तु-जगत् में आ जाने पर भी एक नैतिक आदर्शवादी हैं। सिर्फ़ उन्होंने प्रभुता, (कृत्रिमता) को मनुष्यता की भूमि पर परखा है, चाहे वह राजनीतिक हो या धार्मिक।

इन उद्धरणों में लेखक ने वर्तमान विश्व की अशान्ति में जिस शान्ति-साधन का संकेत किया है, वह भारतीय अध्यात्म से संभव है। आन्तरिक रोग के लिए आन्तरिक निदान चाहिए; किन्तु पश्चिम की नकल पर हम बाह्य चिकित्सा में लगे हुए हैं, जो ऊपर से रोग को दबाने का प्रयत्न करती है, किन्तु रोग भीतर से उभड़ पड़ता है। भारतीय अध्यात्म व्यक्ति के अभ्यन्तर को स्वस्थ करता है।

अन्य देशों का शासन लोगों को एकमात्र नागरिकता का बोध कराता है किन्तु मनुष्य मनुष्य के नाते जितना अपने कर्त्तव्य को 'फ़ील' करता है, उतना नागरिक के नाते नहीं; क्योंकि मनुष्यता में आत्म-प्रेरणा रहती है, नागरिकता में बेबसी। किसी बेबसी या लाचारी से नहीं, किसी भय या आशङ्का से नहीं; बल्कि अन्तरात्मा की पुकार से स्वेच्छापूर्वक जब मनुष्य कर्त्तव्यारूढ़ होगा, तभी विश्व में आन्तरिक शान्ति होगी। राजनीति

द्वारा नहीं; बल्कि नीति द्वारा शान्ति सम्भव है। नवीन संस्कृति किस प्रकार की अपेक्षित है, 'ज्योत्स्ना' के वेदव्रत के शब्दों में—"पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भर एवं अध्यात्मवाद के अस्थिपञ्जर में भूत या जड़-विज्ञान के रूप-रङ्ग भर हमने नवीन युग की सापेक्षतः परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया।" और इसी लिए "इस युग ('ज्योत्स्ना' में निर्दिष्ट भावी युग) का मनुष्य न पूर्व का रह गया है, न पश्चिम का रह गया है; पूर्व और पश्चिम दोनों ही मनुष्य के बन गये हैं।"

[५]

पन्त ने 'गुञ्जन' में वेदना को दो रूपों में ग्रहण किया है—एक वह, जो विश्व-जीवन में अशान्ति का कारण बन जाती है; दूसरी वह जो मनुष्य के मानसिक विकास में सहायक होती है। एक में वेदना का भौतिक रूप है, दूसरे में आत्मिक। महादेवी ने अपने काव्य में आत्मिक वेदना को ही प्रधान बनाया है। आत्मिक वेदना मनुष्य को साधनाशील बनाती है; पन्त के शब्दों में—

दुख इस मानव आत्मा का
रे नित का मधुमय भोजन,
दुख के तम को खा-खाकर
भरती प्रकाश से वह मन।

अस्थिर है जग का सुख-दुख
जीवन ही नित्य, चिरन्तन !
सुख-दुख से ऊपर, मन का
जीवन ही रे अवलम्बन।

इसी जीवन के अनुराग के लिए कवि ने कहा है—

जीवन की लहर-लहर से
हँस-खेल खेल रे नाविक !
जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़ बूड़ रे भाविक !

जीवन के क्षणिक सुख-दुख सरिता के युगल पुलिनों की भाँति जीवन से भिन्न हैं; जीवन का तो एक और ही शाश्वत अस्तित्व है—

सुख-दुख के पुलिन डुबाकर
लहराता जीवन-सागर।

जीवन के इस उन्मुक्त स्वरूप को हृदयङ्गम कर लेने पर विश्व की जटिलता में भी मनुष्य अपने लिए एक स्थान बना लेता है; यथा—

काँटों से कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली,
इसमें ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली।

अपनी डाली के काँटे
बेधते नहीं, अपना तन,
सोने-सा उज्ज्वल बनने
तपता नित प्राणों का धन।

सुख की अपेक्षा दुख में पन्त को भी अधिक गम्भीरता दीख पड़ती है। सुख में तो उन्हें एक प्रकार की चञ्चलता-वाचालता जान पड़ती है —

गूँजता भूला भौंरा डोल
सुमुखि! उर के सुख से वाचाल।

संसार में इतनी व्यथा है कि कवि लिप्त होकर सुख को अपना नहीं सकता —

अपने मधु में लिपटा पर
कर सकता मधुर न गुञ्जन,
करुणा से भारी अन्तर
खो देता जीवन कम्पन।

संसार के दारुण दुख और उच्छ्वास से विरक्त होकर 'गुञ्जन' का कवि, जीवन को संसार से पृथक् नहीं कर लेना चाहता। वैराग्य में नहीं, कर्म में उसका विश्वास है; मुक्ति की अपेक्षा जीवन के बन्धनों में उसकी आस्था है। कहता है—

जीवन के नियम सरल हैं
पर है चिरगूढ़ सरलपन;
है सहज मुक्ति का मधु-क्षण,
पर कठिन मुक्ति का बन्धन।

जीवन जिन सुन्दर नियमों से परिचालित है, वे देखने में तो सरल हैं; किन्तु युगों के गूढ़ आत्म-चिन्तन से सुलभ हुए हैं, इसी लिए उनका 'सरलपन' 'चिरगूढ़' है। उन सरल नियमों के सम्बन्ध में यदि हम संशय न कर, विश्वास से काम लें, तो लोक-जीवन सहज ही सुखी हो सकता है; कवि की ही वाणी—

सुन्दर विश्वासों से ही
बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज-सहज साँसों से
चलता उर का मृदु स्पन्दन।

जीवन जिन सहज, किन्तु गूढ़ नियमों से आबद्ध होकर अपने को लोक-सार्थक करता है, उन्हें तोड़कर उन्मुक्त हो जाना सहज है; किन्तु जीवन के बन्धनों में ही मुक्ति को आबद्ध पाना, एक श्रेष्ठ आत्मसाधना है।

बन्धनों से ही मुक्ति की उपलब्धि उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार सगुण-द्वारा निर्गुण की अनुभूति अथवा शरीर-द्वारा आत्मा की प्राप्ति। इसी लिए कवि दुहराता है—

तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन,
गन्ध-हीन तू गन्धयुक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप मन!

कवि जीवन को निस्तरङ्ग-रूप में नहीं, बल्कि एक तरङ्गा-कुल सरिता के रूप में ग्रहण करना चाहता है। निस्तरङ्ग सरिता जिस अनन्त सिन्धु (सच्चिदानन्द) में जा मिलेगी, तरङ्गाकुल सरिता भी उसी में मिलकर पूत होगी। जीवन को यदि निस्तरङ्ग ही रहना है, तो फिर उस अनन्त सिन्धु से पृथक् इसे एक विश्व-गति क्यों मिली? यदि अपने हृदय का हास-हुलास, क्रीड़ा-कलरव लेकर यह उस अनन्त से मिले, तो सच्चिदानन्द को अधिक प्रसन्नता होगी। कवि ने कहा है—

क्या यह जीवन! सागर में—
जल-भार मुखर भर देना!
कुसुमित पुलिनों की क्रीड़ा-
व्रीड़ा से तनिक न लेना!

सागर-सङ्गम में है सुख,
जीवन की गति में भी लय;
मेरे क्षण-क्षण के लघु कण
जीवन-लय से हों मधुमय।

पन्त एक आस्तिक और आदर्शवादी कलाकार हैं—

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का।
जगजीवन में उल्लास मुझे,
ईश्वर पर चिरविश्वास मुझे।

परन्तु आदर्श को वे रूढ़ियों के बन्धन में नहीं, बल्कि व्यक्तियों के स्वतन्त्र विकास में प्रतिफलित देखना चाहते हैं। "आदर्श स्वभाव के अनुरूप चलते हैं।" इसी लिए 'ज्योत्स्ना' में हेनरी कहता है—"प्रवृत्ति, निवृत्ति मार्ग (Positive, negative attitudes) सदैव ही रहेंगे, दोनों ही अपने-अपने स्थान पर सार्थक हैं, पहला भोक्ता के लिए, दूसरा द्रष्टा के लिए जिसे ज्ञान प्राप्त करना है।"

[६]

आज मानव-इतिहास कितना बदल चुका है—न जाने उपवन में कितने वसन्त और पतझड़ आये-गये हैं, न जाने वसुधा कितने हास-अश्रुओं में हँसी-रोई है।

समय की इस परिवर्तनशील लीला का प्रभाव जब व्यष्टि रूप से हृदय पर पड़ता है तब साहित्य-कला की सृष्टि होती है, जब समष्टि रूप से समाज पर पड़ता है तब इतिहास की रचना होती है। पन्त ने दोनों ही प्रभावों को ग्रहण किया है, इसी लिए उनकी काव्य-कला भी बदली है और मनो-धारा भी। युग

की सम्पूर्ण प्रगति अभी प्राप्य नहीं, क्योंकि संसार में युग ने अभी अपना प्रथम चरण (स्वप्न) ही रक्खा है, अतएव पन्त भी अभी अविकसित हैं।

हाँ तो, पन्त इस बार मानवीय इतिहास के भीतर से अपनी रचना लेकर आये हैं। मध्ययुग में भी किन्हीं कवियों ने इतिहास के भीतर से प्रेरणा ली थी, जिन्हें हम 'चारण' नाम से जानते हैं। उस युग में इतिहास ने जहाँ तक क़दम बढ़ाया था वहाँ तक वह एक राज्य या एक सम्प्रदाय के घेरे में था। उसी के अनुरूप चारणों की कविता भी एक लघु परिधि में निबद्ध है। अब सदियों की प्रगति से मानव जाति अधिक विस्तीर्ण हो गई है। मानवजगत् में अब राष्ट्रीयता ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीयता भी आ गई है। केवल राजनीति की सिद्धि के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता ही नहीं, बल्कि आन्तरिक ऐक्य के लिए विश्व-मानवता भी आ रही है। इसके परिणाम-स्वरूप जिस मानव, जिस समाज, जिस विश्व के उदय की उदयाचल पर अरुणिमा प्रकट होने को है, उसी का स्वप्न हम नवयुग के पलकों में देख रहे हैं। यह स्वप्न एक देश की नहीं, बल्कि सम्पूर्ण देशों की सुसंस्कृत आत्माओं में अपना छायाचित्र उतार रहा है। हमा साहित्य में पन्त जी भी वही स्वप्नदर्शी हैं—

मेरा स्वर होगा जग का स्वर,
मेरे विचार जग के विचार,

मेरे मानस का स्वर्ग-लोक,
उतरेगा भू पर नई बार !

× × ×

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित, भीतर,
सौन्दर्य, स्नेह, उल्लास मुझे
मिल सका नहीं जग में बाहर।

भावी के उपासक सभी कलाकारों का स्वप्न एक है, किन्तु आँखें उनकी अपनी-अपनी हैं; दृष्टि-बिन्दु एक है, किन्तु 'दर्शन' अपना-अपना है। इसी प्रकार पन्त भी सम्प्रति एक दार्शनिक हैं।

उन सत्ताओं और सामाजिक रूढ़ियों ने, जिन्हें मानो इन पंक्तियों में लक्ष्य कर पन्त ने उनका 'युगान्त' चाहा है—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त-ध्वस्त ! हे शुष्क शीर्ण !
हिमताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीतराग, जड़, पुराचीन !

विश्व के सुख-सौन्दर्य्य को निर्वासित कर दिया है, वसुन्धरा की निरीह सन्तानें श्री-हीन होकर अरण्य-रोदन कर रही हैं। रोते-रोते युग-युगान्त हो गया, किन्तु उनके आँसू न पुँछे ! अन्ततः अत्यधिक दीनता ही अत्यधिक शक्ति बन जाती

है। आज आँसुओं के बादलों में ही नवयुग का विद्युतालोक चमक पड़ा है, उसके तीक्ष्ण प्रकाश में पीड़ितों ने देखा है—विश्व में अन्धेर का कितना घटाटोप अन्धकार है। और वह अन्धकार भी क्या है? मानव-जीवन के लिए अन्ध-कारागार। 'युगान्त' के कवि के शब्दों में—

बन्दी उसमें जीवन-अंकुर
जो तोड़ निखिल जग के बन्धन,
पाने को है निज सत्व,—मुक्ति!
जड़निद्रा से जग कर चेतन!

वही चेतन यह भी जान गया है—

उसका प्रकाश उसके भीतर,
वह अमर पुत्र! वह तुच्छ चीज़?

इस उद्दीप्त आत्म-चेतना, इस गर्वीले स्वाभिमान, इस उद्यत आत्मविश्वास से स्फूर्ति और शक्ति पाकर पीड़ित मानव-समाज ने अन्धकार से उद्धार पाने के लिए जो उद्बुद्ध प्रयत्न किया है वह बीसवीं शताब्दी के इतिहास के पाठकों के लिए अपरिचित नहीं। काव्य के भीतर से पन्त इसी प्रयत्न के एक प्रेषक हैं।

आज की साम्पत्तिक सभ्यता ने मानव को जिस नगण्य अवस्था में पहुँचा दिया है, जिस अकिञ्चन स्थिति में पटक कर सारे जीवन मासूम विधवा की तरह क्रन्दन करने के लिए छोड़ दिया है, पन्त ने उसी मानव को, उसी प्रकाश-वंचित अमृत

शिशु को 'युगान्त' में दुलराया है; 'युगवाणी' में सजग किया है। उसे पुचकारकर विश्व-मञ्च पर आत्मशक्ति से खड़ा होने के लिए आश्वस्त किया है। तुम जीवन की कुरूपता के प्रदर्शन के लिए नहीं हो, तुम तो भाग्यवान् हो, रूपवान् हो—

सुन्दर हैं विहँग, सुमन सुन्दर,
मानव! तुम सबसे सुन्दरतम,
निर्मित सब की तिल-सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिरनिरुपम!

पन्त-जैसे द्रष्टा उसके प्राकृतिक रूप-रङ्ग का ध्यान दिला रहे हैं। काव्य-कला में जो रूप-रस है, मनुष्य अपने प्रयत्न से जीवन में उसका उपभोग कर सके, कवित्व जीवन में मूर्त्त हो सके, मनुष्य अपनी दीनता-हीनता से विरक्त न होकर अनुरक्त बने, पन्त की यही टेक है। पन्त का वर्तमान कवि, कला से उदासीन नहीं, वह तो काव्य के लिए जीवन का चित्रपट चाहता है, मानो आत्मा के लिए शरीर।

इस नई कविता-धारा के लिए पन्त जी ने युगान्त में अपनी कोई बड़ी भूमिका नहीं दी है। किन्तु अपनी 'पाँच कहानियाँ' के 'पीताम्बर' नामक स्कैच में मानो उन्होंने 'युगान्त' की कहानी-मयी भूमिका दे दी है, वह पूरी कहानी उनकी सजीव एवं सांकेतिक भूमिका है।

'गुञ्जन' के स-र-ग-म में एकाएक पन्त का स्वर बदल गया था। उसने देखा, जीवन-सरिता के अतल में जाने कितन ऐसे अन्तः-स्वर अवाक् हैं जो विश्व-समुद्र में एकाकार होकर गंभीर नाद उठा रहे हैं।

जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़-बूड़ रे भाविक!

यह नहीं कि पन्त ने 'पल्लव' के यौवन की उपेक्षा कर दी, अपितु उसने देखा कि संगीत-कला में 'सम' हो सकता है, किन्तु आज के विश्व-संगीत में एक ऐसा वैषम्य है जो हमारे शैशव और यौवन को अकाल-वार्द्धक्य में परिणत किये दे रहा है। पन्त का नवजात कवि इस वैषम्य के परिहार के लिए विश्व संगीत की उस स्वर-लिपि का स्वरैक्य खोज रहा है जिसके 'सम' पर हमारा शैशव-यौवन अकुण्ठित कण्ठ से चिरआलाप ले सके; उसका भावी जीवन संगीतमय ही हो जाय।

[७

आधुनिक विकृतियों के कारण, 'पीताम्बर' उस अभाव-वाचक स्थिति पर पहुँच गया जहाँ जीवन की भाव-वाचक विभूतियाँ दुर्लभ हो गई हैं। सच तो यह है कि आज का चिन्तित समुदाय उस अशिक्षित 'पीताम्बर' की तरह ही एक करुण नीरसता का विवश जीवन बिता रहा है। पन्त पहले

मनोराज्य के कवि थे, अब वे उस मानव-राष्ट्र के भी लेखक हैं, जहाँ का अधिकांश अपने-अपने मनोराज्य का विडम्बित प्रतिनिधित्व कर रहा है, मानो मनुष्य की 'अन्तर्'-राष्ट्रीयता के तार टूट गये हैं—

जो एक, असीम, अखण्ड, मधुर व्यापकता
खो गई तुम्हारी वह जीवन-सार्थकता !

'पल्लव' के 'परिवर्त्तन' में पन्त ने कहा था—

हमारे काम न अपने काम
नहीं हम, जो हम ज्ञात;
अरे, निज छाया में उपनाम
छिपे हैं हम अपरूप;
गँवाने आये हैं अज्ञात
गँवाकर पाते स्वीय स्वरूप !

यह पन्त की रहस्यवादी अभिव्यक्ति है। किन्तु 'युगान्त' में छाया (मानो रहस्यवादी निगूढ़ता) को लक्ष्य कर कवि कहता है—

पट-पर-पट केवल तम अपार
पट-पर-पट खुले, न मिला पार !
× × ×
तुम कुहुकिनि जग की मोहनिशा
मैं रहूँ सत्य, तुम रहो मृषा !

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनके लिए पूर्ण प्रत्यक्ष जीवन ही सत्य हो गया, साहित्य की चिरप्रचलित भाषा में कहा जा सकता है कि वे रियलिस्ट हो गये। किन्तु उन्हें केवल यथार्थवादी कहने से उनके कवि रूप का परिचय नहीं मिलेगा। जिस प्रत्यक्ष जीवन को सत्य मानकर वे रियलिस्ट हैं, वह पाशव-जीवन नहीं—मानव जीवन है। आहारादि, अष्ट प्रवृत्तियाँ पशुओं की हैं, मनुष्य में भी ये ऐन्द्रिक चेतना के कारण हैं। किन्तु मनुष्य इन्हीं में सीमित नहीं, इसी लिए वह पशु से भिन्न ('मनुष्य') है। उसकी मानवी स्वाभाविकता उसका मनोजात कलात्मक जीवन है। पशु के बाद मानव-सृष्टि का कारण स्रष्टा का आइडियलिज़्म ही है, अन्यथा, मनुष्य कलात्मक न होकर पाशविक ही रह जाता। इसी कलात्मक मनुष्य की स्वाभाविकता को जगाना पन्त का काव्य-ध्येय हो सकता है। आज के पाशविक जगत् से मानवता उतनी ही दूर है जितनी दूर मानवता से ईश्वरता। रहस्यवाद का आधार जो मनुष्य प्रसुप्त है, सम्प्रति उसी मनुष्य को पन्त का वैतालिक सम्बोधन दे रहा है—

प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हें
उपभोग करो प्रतिक्षण नव-नव,
क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव!

इसे हम पन्त का 'मानववाद' कह सकते हैं। पन्त का मानववाद, यथार्थवाद और रहस्यवाद के बीच की वस्तु है। इन दोनों में, मेरी समझ में, मानववाद, रहस्यवाद की ओर ही जायगा, क्योंकि उसके बिना वस्तुजगत् गोचर-भूमि (ऐन्द्रिक-विहार) मात्र रह जायगा। सम्प्रति मानववाद इसी लिए सापेक्ष्य है कि वह आज की पाशव-भूमि को मानव-आवास के योग्य बना दे।

[८]

प्रसंग-वश एक लेख में निवेदन किया जा चुका है कि भावना और चिन्तना के सम्मिश्रण की आवश्यकता भाव-जगत् और वस्तुजगत् के एकीकरण के लिए पड़ती है। पन्त जी ने 'युगान्त' तथा 'युग-वाणी' में यही एकीकरण किया है। यही एकीकरण हमें द्विवेदी-युग में गुप्त जी की कविताओं में भी मिलता है। इस नई भूमि में पन्त जी का झुकाव पहिले की अपेक्षा कला की सादगी की ओर है। द्विवेदी-युग के कवियों में गुप्त जी और ठाकुर साहब सादगी की कला के एक दृष्टान्त हैं। ठाकुर साहब की मधुरता, गुप्त जी की ओजस्विता और पन्त जी की प्रासादिकता (नवीन सरल व्यञ्जना) से हिन्दी-कविता की एक नव्यतम सजीव कला बन सकती है।

पन्त की नई कला, युग के किशोर की कला है; उसमें नव-युग नवोत्कण्ठ है। यदि छायावाद-युग में कोई किशोर कवि खड़ीबोली की कविता में नव-अग्रसर हो और काव्य-कला के उपकरण पन्त की कविताओं से तथा काव्य के उपादान द्विवेदी-युग के कवियों की भाँति सामयिक जगत् से ग्रहण करे तो उसका कवि-रूप वह होगा जो 'युगान्त' में है। उसका यह रूप कुछ-कुछ गुप्तजी से भी सादृश्य रखेगा, क्योंकि द्विवेदी-युग में गुप्त जी वही वैतालिक हैं जो छायावाद-युग में पन्त जी। अन्तर दोनों के दृष्टिकोण में है। गुप्त जी पौराणिक संस्कृति के वैतालिक हैं, पन्त जी समाजवादी जागृति के। किन्तु उद्बोधन के पथ में दोनों का कण्ठ एक हो जाता है—

बढ़ो अभय, विश्वास-चरण धर!
सोचो वृथा न भव-भय कातर!

—पन्त

धर दृढ़ चरण, समृद्धि वरण कर
किरण-तुल्य कढ़ आगे;
आगे बढ़, आगे बढ़, आगे!

—गुप्त

अन्तर यह है कि गुप्त जी का मुख अतीत की ओर है, पन्त का भविष्य की ओर। दोनों दो भिन्न दिशाओं के प्रगतिशील हैं।

[९]

कवि जब वस्तुजगत् के लिए आइडियल होना चाहता है, तब उसकी कला सादगी की ओर चली जाती है और जब भाव-जगत् के लिए तब अलंकृति की ओर। वस्तुजगत् की सादगी में कल्पनाशीलता कम और दैनिकता अधिक रहती है, भाव-जगत् में दैनिकता कम और कल्पनाशीलता पर्य्याप्त। कल्पना-शीलता के आतिशय्य की प्रतिक्रिया सादगी है, सादगी के आतिशय्य की प्रतिक्रिया यथोचित कल्पनाशीलता है। अत्य-धिक सादगी कविता को गद्य बना देती है, अत्यधिक कल्पना-शीलता कविता को भँड़ैती। संयमित सादगी और संयमित अलंकृति कविता को कविता बनाती है। सादगी और अलंकृति का उचित स्थान पर उचित सन्निवेश भी कवि की एक कला है।

रीति-काल की कल्पनाशीलता के आतिशय्य के प्रतिकूल द्विवेदी-युग की कविता अति सादगी से शुरू हुई। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण का शिशुभारत उसके सामने आया, द्विवेदी-युग का काव्य उसका चारण बना। किन्तु ज्यों-ज्यों नई शताब्दी का भी जीवन-विस्तार बढ़ता गया और चिरन्तन मनुष्य की चिरन्तन प्रवृत्तियाँ (जो वस्तुजन्य ही नहीं बल्कि रसात्मक भी हैं) काव्य में स्थान बनाती गईं, त्यों-त्यों खड़ीबोली का काव्य गद्य से ऊपर उठता गया। अन्त में छायावाद ने रीति-काल की अति-कल्पकता को निखार दिया। द्विवेदी-युग ने

वस्तुजगत् का प्रतिनिधित्व किया था, छायावाद ने भावजगत् का प्रतिनिधित्व किया। रीतिकाल के भावजगत् के दुरुपयोग के प्रति द्विवेदी-युग प्रारम्भ से ही भावजगत् का आदर्श इसलिए उपस्थित नहीं कर सका कि उसे तत्काल वह साहित्यिक सहयोग नहीं प्राप्त हुआ जो छायावाद को मध्यकाल के बाद के अन्य साहित्यों से मिला।

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में, हिन्दी-कविता ने छायावाद के बाद फिर एक परिवर्त्तन उसी प्रकार ग्रहण किया, जिस प्रकार द्विवेदी-युग की कविता ने रीतिकाल की कविता के बाद। पन्त के 'युगान्त' और 'युगवाणी' की कविताएँ इसी परिवर्त्तन-काल की हैं। दोनों ही परिवर्त्तन वस्तुजगत् की सामयिक हलचलों से प्रेरित हैं, फलतः उनकी कला सादगी की ओर है। दोनों जीवन की दैनिक स्वाभाविकता की ओर उन्मुख हैं। मध्यकाल के बाद आधुनिक जीवन का प्रारंभ होने पर जिस प्रकार छायावाद का उदय हुआ, उसी प्रकार आधुनिक युग के बाद के नव-निर्म्मित जीवन में फिर छाया-वाद का कोई परिष्कृत रूप आ सकता है और अज्ञात भावी युग छायावाद की कल्पनाशीलता को (यदि उसमें कोई नुक्स आ गया हो तो) उसी प्रकार निखार देगा, जिस प्रकार छाया-वाद ने मध्यकाल की कल्पकता को निखार दिया। छायावाद की वह भावी कला पन्त जी की 'परिवर्त्तन' शीर्षक कविता में

सम्भाव्य है, जिसमें वस्तुजगत् और भावजगत् का काव्योपम सामञ्जस्य है; संयमित सादगी और संयमित अलंकृति है। यह असंभव नहीं कि छायावाद रहेगा, मानव अस्तित्व के साथ वह सदैव रहा, नव-नव रूप-रंगों में उसका पुनर्जन्म होता गया। युग समाज को बदल सकता है, किन्तु उसके कल्पनाशील स्वभाव को नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष जगत् का मनुष्य अनेक अदृश्य वातावरणों में भी रहता है, इसी लिए उसके जीवन में स्वप्नों की मनोहरता है।

छायावाद का उत्कर्ष

[१]

आज की खड़ीबोली की कविता पिछले बीस-पचीस वर्षों की देन है, यह अल्पकाल न पूरी एक शताब्दी है, न आधी शताब्दी, बल्कि बीसवीं शताब्दी का है एक प्रवेशकाल मात्र।

उन्नीसवीं सदी में भारतेन्दु-युग मध्ययुग को बीसवीं शताब्दी के द्वार पर छोड़कर चला गया। भारतेन्दु-युग के हाथ में जो मध्मयुग आया था, वह हिन्दी-कविता के रीतिकाल का अवशेष था। भारतेन्दु-युग को रीतिकाल से कोई असन्तोष न था, बल्कि उसने यथाशक्ति उसका परिपोषण करने का ही प्रयत्न किया। किन्तु देश की नई आबहवा में वह रीतिकाल झड़ गया। रीतिकाल के पतझड़ में साहित्य और समाज के जो नवीन किसलय फूटे, उनकी शिराओं में नव-चेतना रक्त बहने लगा। यह मानो बीसवीं शताब्दी की नूतन ऋतु का आगमन था। जिस प्रकार एक वृद्ध अपने गत यौवन का मोह न छोड़ते हुए भी नवीन शैशव को प्यार करता है, उसी प्रकार भारतेन्दु-युग ने भी रीतिकाल के पतझड़ को तो अपने अंक से लगाया, साथ ही नवीन चेतना को भी अपने कण्ठ से लगाकर राष्ट्रीय और सामाजिक कविताओं का स्वर दिया।

भारतेन्दु-युग के बाद द्विवेदी-युग ने उस नवीन चेतना को ही विशेष रूप से वाणी और स्फूर्ति दी। साथ ही, उसने उस नवीन चेतना के शिशु ललाट पर मध्ययुग की श्रद्धा का चन्दन भी लगा दिया; उसने रीतिकाल के पतझड़ को तो नहीं ग्रहण किया, किन्तु भक्ति-काल के मलय-सुवास को अपनी आत्मा में बसा लेना चाहा। खड़ीबोली के नवचेतन मस्तक पर उसका चन्दन-बिन्दु उसके आन्तरिक केन्द्र-बिन्दु का प्रतीक था, वह था देश-काल के क्षणिक सत्यों के बीच भक्ति-काल के शाश्वत सत्य का एक क्लासिकल निर्देश! अतएव खड़ीबोली की कविता में द्विवेदी-युग से बाह्य और अन्तर दोनों ही चेतनाएँ अग्रसर हुईं, इनका एकीकरण हम देख सकते हैं, मुख्यतः बाबू मैथिलीशरण के काव्य में, देशभक्ति और प्रभु-भक्ति के स्वरूप में। यह एकीकरण हमारे सभी कवियों में नहीं मिलेगा।

द्विवेदी-युग के कवियों में गुप्त जी के अतिरिक्त, जिन अन्य कवियों ने बाह्य और अन्तश्चेतना का एकीकरण करना चाहा, वे पूर्णतः द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि न होकर खड़ीबोली के बानक भारतेन्दु-युग के प्रतिनिधि थे—अर्थात् रीतिकाल की कविता उनकी अन्तश्चेतना बनी हुई थी और बीसवीं शताब्दी की सार्वजनिक जागृति उनकी बाह्य चेतना। ऐसे कवियों में श्रीधर पाठक, हरिऔध, गोपालशरण और सनेही के नाम लिये जा सकते हैं।

इधर द्विवेदी-युग के सीनियर कवियों के बाद जो नवयुवक कवि आ रहे थे उन्होंने बाह्य चेतना को तो गौणरूप में ग्रहण किया, अन्तश्चेतना को प्रमुख रूप में। वह अन्तश्चेतना जो कबीर, सूर, तुलसी, मीरा और रसखान की साँसों से हमारे साहित्य में जीवित चली आ रही थी, नवयुवकों द्वारा नये काव्य-साहित्य में भी प्राण-प्रतिष्ठा पा गई। अपनी-अपनी अनुभूति से, अपने-अपने यौवन से, उन्होंने अन्तश्चेतना को मध्ययुग की अपेक्षा एक भिन्न रूप और एक भिन्न ज्योति से कवित्वमण्डित किया। चूँकि अन्तर्दिशा को ही लेकर वे चले, इसलिए द्विवेदी-युग की अपेक्षा वे उस दिशा में अधिक उन्नत कलाकार और भावोद्भावक हुए। द्विवेदी-युग का व्यक्तित्व तो अपनी कला में मध्ययुग के मध्यवित्त भारतीयों के अप-टू-डेट वेश-विन्यास जैसा है, किन्तु ज्यों-ज्यों बीसवीं शताब्दी आगे बढ़ती गई, त्यों-त्यों हमारे साहित्य और समाज के डिज़ाइन भी बदलते गये। फलतः हमारी अभिव्यक्ति में केवल हिन्दी-हिन्दुस्तान के मुहावरे और संस्कार ही न रहे बल्कि उसमें विश्वसमाज और विश्वसाहित्य की तर्जेअदा भी आ गई। और, इन बीस-पचीस वर्षों में ही खड़ीबोली द्विवेदी-युग से एकदम भिन्न हो गई। साहित्य और समाज के इस परिवर्तनकाल में, गान्धी-युग सामने आया। गान्धी-युग ने अन्तश्चेतना को मूलतः वही रक्खा, जो मध्य-युग के सन्तों या भक्तिकाल की

कविता में थी, साथ ही वह बाह्य चेतना (सामाजिक और राष्ट्रीय जागृतियों) को भी मूल स्वरूप के बहुत निकट खींच लाया। उसने साहित्य और समाज को सन्तों का बानक दे दिया। इधर साहित्य और समाज के जो नये डिज़ाइन बन चुके थे, वे तो बने ही रहे—विश्वसाहित्य और विश्वसमाज के सम्मुख उपस्थित होने के लिए, साथ ही, अपने देश और अपने साहित्य के साथ आत्मीयता बनाये रखने के लिए गान्धी-युग का विन्यास भी अंगीकृत हुआ। साहित्य और समाज के नये डिज़ाइनों के बीच गान्धी-युग का यह विन्यास हमारे काव्य में गुप्त जी के साहित्य में आच्छादित हुआ। इसी लिए वे पुरातन होकर भी आधुनिक रहे। उनकी कविताओं में खादी की भाँति ही एक आधुनिकता-रहित-आधुनिकता है। छायावाद के कवियों की काव्य-कला में जब कि एक रोमान्टिक आधुनिकता है, गुप्त जी की कविताओं में एक क्लासिकल आधुनिकता। उस क्लासिकल आधुनिकता को कला का रोमान्टिसिज़्म मिला क्रमशः माखनलाल, नवीन और निराला की कविताओं से।

जैसा कि पहले निर्देश कर आया हूँ, द्विवेदी-युग के कवियों के बाद छायावाद के जो नवयुवक कवि आ रहे थे उन्होंने अन्तश्चेतना को ही प्रमुख रूप से ग्रहण किया। बाह्यचेतना के क्षेत्र में हमारे राष्ट्रीय कवि अपना कर्त्तव्य पूरा कर ही रहे थे, अतएव छायावादी कवियों ने अन्तश्चेतना के अन्तर्गृह में ही

अपना स्थान बनाया। राष्ट्रीय कवियों ने बाहर की चौकसी ली, छायावादी कवियों ने भीतर का साज-समाज सँजोया। विश्राम-स्वरूप बाह्यक्षेत्र से जो कवि इस अन्त:क्षेत्र में आये, छायावाद ने उन्हें भी अपनी सीमा में अन्तर्भुक्त कर लिया, इसीलिए माखन-लाल और नवीन राष्ट्रीय कवि होते हुए भी छायावादी कवि के रूप में भी गृहीत हुए।

[२]

छायावाद की कविता न तो एकदम शृंगारिक है, न एक-दम भक्तिमूलक; उसमें इन दोनों के बीच का व्यक्तित्व है—अनु-राग। द्विवेदी-युग ने भक्तिकाल को तो स्पर्श कर लिया था, किन्तु रीतिकाल की अवहेलना कर दी थी, यही नहीं, बल्कि उसने शृंगार-काल की अति-रसिकता के प्रतिरोध में ही खड़ी-बोली का आह्वान किया था। छायावाद-युग के कवियों ने न तो शृंगार की सर्वथा उपेक्षा की और न द्विवेदी-युग के प्रति कृतघ्नता। नवीन छायावाद असल में हिन्दी-कविता के उस स्वस्थ-काल का आविर्भाव है जब कि साहित्य एक लम्बी प्रगति के बाद अपनी थकान मिटाकर अपनी समस्त अनुभूतियों और समस्त अभिव्यक्तियों का सार-संचय करता है, एक क्रीम के रूप में। फलत: छायावाद ने द्विवेदी-युग से खड़ीबोली की काव्य-कला का प्रारम्भिक संस्कार लेकर विश्व-साहित्य के साहचर्य से उसका विकास तो किया ही, साथ ही उसने मध्ययुग की काव्य-

विभूतियों से अपनी इष्ट-सिद्धि भी ली। शृंगार काव्य से उसने हृदय की रसात्मकता ग्रहण की, भक्ति-काल से आत्मा की तन्मयता। अथवा यों कहें कि उसने भक्ति को मधुर बनाकर ग्रहण किया और वही मधुर भक्ति है अनुराग या छायावाद। द्विवेदी-युग ने शृंगार-काल की रसिकता से ऊबकर खड़ीबोली की कविता में एक तरह से सरसता का बायकाट-सा कर दिया था। उस युग में जो थोड़ी बहुत सरसता मिलती भी है वह ऐसी है मानो किसी रूखे-सूखे मकान के सहन में एकाध गमले रख दिये गये हों। द्विवेदीयुग के बाद छायावाद ने ही अपने अनुराग के रस से हिन्दी-कविता को एक बार फिर सरस कर दिया।

[३]

हमारी कविता को जनता के बीच भी लाने का श्रेय निःसन्देह कांग्रेस को है। किन्तु कांग्रेस ने हमारी कविता का शृंगार नहीं किया, उसके अन्तःसौन्दर्य को उसने नहीं मण्डित किया। कला-मण्डन का श्रेय तो शान्ति-निकेतन के उस वृद्ध वाल्मीकि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को है। कांग्रेस ने अथवा महात्मा गान्धी ने मनुष्य के तन-बदन की सुध ली, कवि ठाकुर ने उसके हृदय की। महात्मा ने प्राण-प्रतिष्ठा की, कवि ने उन प्राणों को झनकार दी। महायुद्ध के बाद का हमारा समाज और साहित्य गान्धी और रवीन्द्र के सम्मिलित व्यक्तित्व से ही अपना एक

विशेष युग बनाता है। आज की राजनीतिक परिस्थितियों में भी इस युग का मूल है भक्ति-काल, जैसा कि वह अपने समय की संघर्षमय सार्वजनिक परिस्थितियों में था। आज उस मूल के तना हैं महात्मा गान्धी, उसके पल्लवित-पुष्पित-विकास हैं रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

कवि रवीन्द्रनाथ की दस उँगलियाँ दसों दिशाओं में घूमीं-फिरीं, और उन्होंने संसार के बीच सम्पूर्ण भारतीय कलाओं को अपने ज्योतिःस्पर्श से जगमगा दिया—क्या गद्य, क्या काव्य, क्या संगीत, क्या नृत्य, क्या चित्र, क्या शिल्प। आज के संक्रांति-काल में कवि ठाकुर ने ही कला की निधियों को अपने प्राणों में सँजो रक्खा, ताकि अपने ललित विकास के लिए नई पीढ़ी कभी उन्हें स्वस्थ हृदय से ग्रहण कर सके। आपत्तिकाल में म्यूज़ियम नष्ट हो सकते हैं, जैसे आज चीन और स्पेन में वे युद्ध-ध्वस्त हो रहे हैं; किन्तु कला के भीतर जो जीवित मनुष्य है, वह नहीं मरता। रवीन्द्रनाथ कला के वही जीवित मनुष्य हैं और जब तक रूखी-सूखी पृथ्वी पर एक भी हरियाली शेष रहेगी तब तक रवीन्द्रनाथ का नव-नव आविर्भाव होता रहेगा। आज खड़ीबोली की कविता में छायावाद का जो नव-जाग्रत अन्तःप्रकाश है, वह भी उसी रवि का उजास है।

छायावाद का अन्तःप्रकाश हमारे काव्य के जिन दीपस्तम्भों से प्रकाशित है, वे हैं—सर्वश्री 'प्रसाद', माखनलाल, 'निराला',

पन्त, महादेवी, रामकुमार, 'नवीन' इत्यादि। इनके पूर्व, द्विवेदी-युग के कवियों ने खड़ीबोली की शरीर-रचना कर दी थी, विशेषकर गुप्त जी ने कविता के सभी अवयवों का एक मॉडल बना दिया था; किन्तु उस मॉडल को चित्रवाणी देने का श्रेय छायावाद के कवियों को ही है। उन्होंने खड़ीबोली को सौन्दर्य की तूलिका से सँवारकर, अन्तर्वेदना की बाती से प्रदीप्त किया।

[४]

खड़ीबोली के पूर्वकाल के प्रतिनिधि हैं गुप्त जी, उत्तरकाल के प्रतिनिधि छायावाद के कवि। गुप्त जी प्रधानतः भावों और विचारों के एक माध्यम कवि रहे हैं। उनका अपना कवि पाठकों के सामने बहुत संक्षिप्त है। वे राजनीतिक जागृतियों और धार्मिक विश्वासों को जनता के प्रीत्यर्थ उपस्थित करते रहे हैं, जिनके लिए उन्हें राष्ट्रीय नेताओं और प्राचीन कथाओं का साधन प्राप्त हुआ। दूसरी तरफ़ कला के क्षेत्र में उन्होंने अधिकाधिक अनुवाद दिये। अनुवादों द्वारा भी उनकी रुचि प्राचीन विकास की ओर है, इसी लिए माइकेल और ख़ैयाम को तो उन्होंने हमें दिया, किन्तु रवीन्द्रनाथ को नहीं। इसका कारण यह कि वे भावुक उद्भावक नहीं, बल्कि स्वयं भी एक ऐसी प्रभावित जनता हैं जो देश-काल के अनुसार अपनी गति-विधि बनाकर अपनी पुरानी मर्यादा में चल सकती है। भावुकता के अभाव में वे प्राचीनता से सम्बद्ध साहित्य से बहुत आगे न

जा सके, यदि गान्धी का भारत उनके सामने न रहता तो उनका मौलिक काव्य 'साकेत' भी दुर्लभ ही रहता। गुप्त जी के बाद आवश्यकता थी उद्भावक भावुकों की। छायावाद के कवि वही उद्भावक भावुक हैं, जिसके अगुआ हैं—प्रसाद और माखनलाल। यद्यपि खड़ीबोली में छायावाद की कविता का श्रीगणेश करने का श्रेय 'प्रसाद' को दिया जाता है; किन्तु उसके प्रति रुचि जाग्रत करने का श्रेय माखनलाल को है। १

गुप्तजी ने देश-काल की जागृति में अपनी राष्ट्रीय कविताओं से लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी, उचित अवसर उचित वस्तु का उन्होंने यथेष्ट मूल्य प्राप्त कर लिया था। राष्ट्रीयता के उस जाग्रत काल में 'प्रसाद' माधुर्यभाव को छायावाद की व्यंजना में लेकर आये थे, किन्तु गुप्तजी के राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व में वे प्रधान न हो सके। उनके लिए उपयुक्त अवसर न आया था। इधर, गुप्तजी की कविताओं ने राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व तो किया, साथ ही उनके अनुवाद-ग्रंथों ने नवयुवकों में काव्य की रसात्मकता के लिए भी एक भूख-प्यास जगा दी थी, विशेषतः माइकेल की 'विरहिणी ब्रजांगना' ने। इस प्रकार गुप्तजी माधुर्यभाव के लिए पूर्वपीठिका बने। किन्तु, इस समय भी 'प्रसाद' की कविताओं के लिए अवसर न उपस्थित हो सका था। कारण, नवयुवक-समुदाय माधुर्य का कुछ रसास्वाद पाकर भी सार्वजनिक जागृति के प्रति चमत्कृत था। गुप्तजी की कविताओं

क रस से वह इतना छका था कि वह सौन्दर्यानुराग और लोका-नुराग की किसी सम्मिलित अभिव्यक्ति को ही ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो चला था, न कि केवल माधुर्यभाव को। साथ ही वह काव्य को ग्रहण करने में उस अभिधेय-शैली तक ही उठ चुका था, जिसका परिचय उसे गुप्तजी की कविताओं से मिल चुका था। फलतः उसी कोटि की नवीनता के इच्छुक नव-युवकों का ध्यान उपाध्याय जी के 'प्रिय-प्रवास' की ओर गया। गुप्त जी की गद्योपम खड़ीबोली के बावजूद नवयुवकों को उपा-ध्याय जी की संस्कृत-गर्भित खड़ीबोली में एक नवीनता मिली। किन्तु उपाध्याय जी की वह भाषा, हिन्दी की तत्कालीन परिधि में नवीन भले ही लगी हो, पर वह आधुनिक कविता की भाषा नहीं थी। उपाध्याय जी के पास एक क्लासिकल भाषा थी, नवीन भाव नहीं थे। आगे चलकर उनके 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' इस बात के प्रमाण हुए कि उनसे एक पुरानी रुचि की जनता के लिए भाषा तो मिल सकती है, किन्तु काव्य की बढ़ती हुई प्रगति के लिए उपादान नहीं। ठीक इसी समय माखनलाल जी की कविताएँ सामने आईं, गुप्तजी की खड़ीबोली की प्रेरणा में एक संक्षिप्त भारतीय नवीनता लेकर। गुप्त जी की विस्तृत वर्णनात्मक कविताओं के बजाय, माखनलाल की षट्पदियों में उस भावुक-समाज को जो दोहों, सवैयों में अपनी भावुकता को मश्क कर चुका था, अपने मन का नूतन सरञ्जाम

मिला। केवल इसलिए नहीं कि वे संक्षिप्त थीं बल्कि उनमें अभिव्यक्ति की नवीन विदग्धता थी, उर्दू कविता की तर्जेअदा में।

गुप्त जी के बाद उपाध्याय जी के 'प्रिय-प्रवास' की लोकप्रियता यह सूचित करती है कि नवयुवकों में खड़ीबोली का अनुराग उत्पन्न हो जाने पर भी वे व्रजभाषा के माधुर्य भाव का मोह न छोड़ सके थे। अतएव नवीनता के लिए उन्होंने माधुर्य भाव की आधुनिकता, व्रजभाषा के बाद माखनलाल की कविताओं द्वारा हिन्दी में उर्दू से ग्रहण की। इतने अभ्यास के बाद वे ज़रा और आगे बढ़कर नव्यतम आधुनिकता के स्वागत-योग्य हो गये। फलतः राष्ट्रीय जागृति की भाँति ही, हृदय के भीतर कविता के भी जग जाने पर वे 'प्रसाद' को भी ग्रहण करने लगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार गुप्त जी, उपाध्याय जी के 'प्रिय-प्रवास' के लिए पूर्वपृष्ठ बने, उसी प्रकार माखनलाल, प्रसाद जी की कविताओं के लिए। गुप्त जी खड़ीबोली को जाननेवाले वैतालिक हैं, माखनलाल कविता के उद्बोधक और 'प्रसाद' वर्त्तमान हिन्दी-कविता के आरम्भिक गायक। और यह गायक भी छायावाद के अन्य कवियों की पूर्व-पीठिका बना।

गुप्त जी, उपाध्याय जी, माखनलाल जी और प्रसाद जी, इन कवियों का क्रमिक अपनाव यह सूचित करता है कि भावुक समाज क्रमशः काव्य-कला के निखार की ओर अग्रसर हो रहा

था और जैसे ग्रामीण भारत ने अपने विकास में नागरिक भारत को पाया, उसी प्रकार हमारा काव्य-साहित्य भी मध्ययुग की अपनी ठेठ-प्रकृति के भीतर से साहित्यिक आधुनिकता को ग्रहण करने लगा, एक ललित-प्रांजलता की ओर बढ़ने लगा।

[५]

माखनलाल के बजाय 'प्रसाद' अधिक ललित होकर भी अपनी काव्यकला में अपना नाटकीय-गद्य-संस्कार न छोड़ सके। अतएव उनकी कविता अपनी भाषा में छायावाद-युग से पूर्ण अभिन्न होते हुए भी द्विवेदी-युग से भी कुछ अभिन्न है। गुप्त जी और प्रसाद जी, ये दोनों ही द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के मध्यवर्ती हैं, किन्तु अन्तर यह है कि गुप्त जी द्विवेदी युग के अधिक पार्श्ववर्त्ती हैं और प्रसाद जी छायावाद-युग के। और प्रसाद जी की सफल कृतियाँ छायावाद-युग अर्थात् खड़ीबोली के उत्तर-काल में ही रची गई हैं, पूर्वकाल में तो उनके नूतन कवित्व का विरल परिचय ही मिलता है, जब कि गुप्त जी का कवित्व उसी काल में घनीभूत है—यहाँ तक कि 'साकेत' का सुन्दर प्रारम्भ भी उसी काल में हुआ था।

खड़ीबोली के उत्तरकाल में काव्यकला को जिस परिपूर्ण ललित प्राञ्जलता की आवश्यकता थी, वह ललित प्राञ्जलता पन्त में आकर खूब निखरी।

प्रसाद और माखनलाल के बाद छायावाद के जो सीनियर कवि आते हैं, वे हैं निराला और पन्त। निराला का काव्य अपनी प्रतिभा की जटिलता में एक 'गहन-गिरि-कानन' है, पन्त का काव्य अपनी स्वच्छ सुषमा में एक पल्लवित-गुञ्जित उद्यान।

काव्यकला की आधुनिकता में निराला उसी प्रकार बोझिल हैं, जिस प्रकार खड़ीबोली की पिछली प्राचीनता में उपाध्याय जी का 'प्रिय-प्रवास'। और यह उसी प्रकार सत्य है जिस प्रकार 'युगान्त' से पन्त की कविताओं का 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे'-जैसा हो जाना। अवश्य ही निराला जी ने खड़ीबोली की उस कविता को, जो गुप्त जी और उपाध्याय जी में वृद्ध हो चली थी, नवयौवन दिया। इसी लिए हम उन्हें क्लासिकल आधुनिकता को काव्यकला का रोमान्टिसिज्म देने-वालों की पंक्ति में स्मरण कर चुके हैं, और वे उस पंक्ति में श्रेष्ठतम हैं।

द्विवेदी-युग की जो कविता माइकेल-काल के बाद रवीन्द्र-युग की ओर नहीं बढ़ सकी थी, जो अपने सीमित विकास में अवरुद्ध हो गई थी, उसे निराला की कविताओं से ही अभ्युदय मिला। निराला का काव्य द्विवेदी-युग का ही नवोत्थान है। प्रसाद जी द्विवेदी-युग द्वारा जिस काव्योत्थान को देखने के लिए अधीर थे, जिसके अभाव में उन्होंने क्षुब्ध होकर 'सरस्वती' से पृथक् मासिक 'इन्दु' में अपना स्थान बनाया था, उस उत्थान का

कवि द्विवेदी-युग के भीतर से ही उनके हमजोली के रूप में उनके उत्तरकालीन काव्य-काल में आ मिला और उन्होंने 'गीतिका' की भूमिका में उसका अभिनन्दन किया।

[६]

पन्त ने प्रसाद और निराला दोनों से ही भिन्न रचना को अग्रसर किया। द्विवेदी-युग की जो खड़ीबोली रूपान्तरित होकर प्रसाद द्वारा छायावाद बन गई थी, उस छायावाद का पूर्ण शारीरिक परिष्कार पन्त ने ही किया। प्रसाद और निराला की भाषा और अभिव्यक्ति में द्विवेदी-युग के संस्कारवश जो गाद्यिकता शेष थी, पन्त जी ने उसे इतिश्री देकर अपनी तूलिका से खड़ीबोली को पूर्णतः कविता की भाषा बना दिया। और वह खड़ीबोली इतनी मधुर और कोमल हो गई कि यदि आज ब्रजभाषा जीवित होती तो उसे खड़ीबोली से ईर्ष्या होती। पन्त ने दूर्वा-सी कोमलता बिछाकर खड़ीबोली की नूतन श्री का स्वागत किया था। वह नूतन श्री पन्त की ही मानसी सृष्टि थी। शृंगार-काल की कविता यदि सौन्दर्य का ऐन्द्रिक बन्धन छोड़कर प्रकृति की दिगन्त-व्याप्त सीमा से जा मिले तो उसके हृदय में जो नवीन संगीत बजेगा, नेत्रों में जो नवीन प्रकाश जगमगायेगा, उसी सौन्दर्य और प्रकाश से पन्त की कविता मुखरित-ज्योतित हुई। पन्त जी की वह कविता क्या है? एक शब्द में—'प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवा-

रति।'—पं० श्रीधर पाठक प्रकृति को जो साज-शृंगार देना चाहते थे, परंतु कोमल होते हुए भी प्रतिभा के संकोच में गोल्डस्मिथ से आगे नहीं जा सके, उनकी उस अवरूद्ध क्लासिकल प्रतिभा को पन्त के ही यौवन से रोमान्टिसिज्म मिला। अवश्य ही पन्त की कविता ने भी पार्थिवता को ही ग्रहण किया, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म रूप में; पृथ्वी की रूखी-सूखी धूसर मिट्टी को सुरुचि से छानकर, अनुराग से रंगकर, संगीत से सजीव कर, उन्होंने एक दिन बड़ी बारीकी से कविता की सौन्दर्य्य-रचना की थी।

उनकी कविता में अपार्थिव संकेत भी हैं, किन्तु सृष्टि के भीतर रहकर ही। सृष्टि में जो कुछ प्रत्यक्ष है उसी के द्वारा उन्होंने अपर सत्य को जानना चाहा, जैसे क्षिति से क्षितिज को। उन्हें नक्षत्रों से, खद्योतों से, ओसों से मौन निमन्त्रण मिलता है, किन्तु वे उससे विस्मित होकर बोल उठते हैं—

न जाने कौन अये द्युतिमान!
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
फूँक देते छिद्रों में गान।

फलतः पन्त ने प्रकृति के विस्तार में, सृष्टि के प्रसार में क्षितिज तक उठकर पृथ्वी पर ही चाँदनी की चादर बिछा दी। पन्त मुख्यतः सौन्दर्य्योल्लास के कवि हैं, उनके कवित्व का सार है यह—

अकेली सुन्दरता कल्याणि !
सकल ऐश्वर्यों की सन्धान !!

उनकी कविता में एकान्त क्रीड़ा है, पीड़ा नहीं--

उस फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही मा !
वह अपनी वयवाली में

× × ×

अरी सलिल की लोल हिलोर
यह कैसा स्वर्गीय हुलास !
सरिता की चञ्चल दृगकोर
यह जग को अविदित उल्लास !!

× × ×

सिखा दो ना हे मधुपकुमारि !
मुझे भी ये केसर के गान,
कुसुम के चुने कटोरों से
करा दो ना कुछ कुछ मधुपान ।

इस प्रकार पन्त जी ने जीवन में सौन्दर्य और संगीत को प्यार किया, जीवन की स्वर्गीय विभूतियों का वरण किया। हाँ, उनकी कविता राजसी है, तापसी नहीं;--

कभी स्वर्ग की थीं तुम अप्सरि
अब वसुधा की बाल,

जग के शैशव के विस्मय से
अपलक - पलक - प्रवाल !

वही 'वसुधा की बाल', वही स्वर्ग की सौन्दर्यकुमारी पन्त की कविताओं द्वारा पृथ्वी पर चाँदनी की तरह किलक-पुलक उठी है।

जग के शैशव के विस्मय से
अपलक-पलक प्रवाल !

ऐसे ही विस्मित शैशव का कवि, पन्त के काव्य में है। सौन्दर्योल्लास को पन्त ने यौवन की अपेक्षा शैशव की सहज सुषमा में ग्रहण किया था—

सरल शैशव के सुखद सुधि-सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी !

× × × ×

वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर

× × × ×

उसके उस सरलपने से
मैंने था हृदय सजाया,
बहु ललित कल्पनाओं का
कह कल्पलता अपनाया।

बाल कल्पना-सी ही सुकुमार उनकी कविता है।

जिस प्रकार सूर बाल्यप्रकृति के कवि हैं उसी प्रकार पन्त भी। अन्तर यह है कि सूर ने बचपन का चित्रण किया है, पन्त ने बचपन द्वारा देखे हुए भावाकुल सृष्टि का।

परन्तु बचपन का संसार आँखों के सामने से हटते ही वास्तविकता का संसार हमारी बुद्धि के सयानेपन से आ मिलता है और जीवन के प्रांगण में जहाँ चाँदनी छिटकती है, वहीं धूप भी खिलखिला पड़ती है, मानो बचपन के आँगन में उष्ण यौवन हँस पड़ता हो। चाँदनी-सी सरलता में सम्पूर्ण सम-विषम विश्व को मनोरमता-पूर्वक ग्रहण कर लेनेवाले पन्त के भावविस्मित शैशव का जो आसन (हृदय) रिक्त हो गया है, वहाँ अब वस्तुवादी यौवन अधिकारारूढ़ हुआ है, मस्तिष्क जिसका प्रधान मन्त्री बन गया है। आज उसका संसार और उसके देखने का दृष्टिकोण बदल गया है। पन्त के कवि में पहले केवल मुग्धता थी, अब उपभोग्यता भी आ गई है। पहले पन्त में प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों के बीच की चित्तवृत्ति (शिशुता) थी, अब उनका कवि प्रवृत्ति की ओर ही प्रधान रूप से अग्रसर है—

ईश्वर का वरदान तुम्हें
उपभोग करो प्रतिक्षण नव-नव!

यह है उनका जीवन निर्देश!

यहाँ यह सूचित करना होगा कि प्रवृत्ति के जगत् में पन्त के कवि-यौवन को प्रारम्भ से ही युग की कठिन वास्तविकता का

सामना करना पड़ा, एक निरे गद्य-युग में उनके नये कवि को आना पड़ा, अतएव वे अपने वर्तमान उद्गारों में काव्य-सरस न रह सके।

पन्त की कविता में जब चाँदनी (सहज सरलता) का व्यक्तित्व था तब उसके प्रकाश (सौन्दर्य) और संगीत (माधुर्य) से प्रकृति में एक स्वर्गीय सुषमा छा गई थी, वस्तुजगत् एक प्रसन्न शीतलता से स्नात होकर निखर गया था। चाँदनी का सूक्ष्म स्निग्ध सौन्दर्यावरण हटते ही, दिवस के गद्यप्रकाश में धूसर वस्तुजगत् अपनी जिस वास्तविकता में स्पष्ट हो जाता है, आज उसी वास्तविकता का नग्न जगत् पन्त के सम्मुख है। पन्त ने चाँदनी से आलोकित कर अपना पिछला संसार भी पृथ्वी पर ही बसाया था, फलतः आज का संसार भी उन्होंने पृथ्वी पर ही पाया। आश्चर्य्य नहीं, यदि उनका पार्थिव भाव-जगत् पार्थिव वस्तुजगत् में परिणत हो गया।

पन्त सदैव दृश्यजगत् के कवि रहे, इसी लिए अदृश्य (अध्यात्म) के प्रति विशेष उत्कण्ठित नहीं, प्रत्यक्ष रंगमंच पर जैसे कोई गाता हुआ चलता जाय, बीच बीच में कहीं से कोई नेपथ्य-संकेत पाकर ज़रा उधर की भी गुनते हुए गा दे, पन्त के कवि की ऐसी ही जीवन-यात्रा रही। उनके लिए तो शून्य आकाश में भी वायु की एक आनन्द-क्रीड़ा है—

प्राण ! तुम लघु-लघु गात !
नील नभ के निकुञ्ज में लीन,
नित्य नीरव, निःसंग नवीन,
निखिल छवि की छवि ! तुम छवि-हीन,
अप्सरी-सी अज्ञात !

अधर मर्म्मरयुत, पुलकित अंग,
चूमतीं चल पद चपल तरंग,
चटकतीं कलियाँ पा भ्रू भंग,
थिरकते तृण तरु-पात।

इस प्रकार उनकी कविता के लिए 'अखिल जगजीवन हास-विलास' है। विश्व में जो कुछ 'अदृश्य', 'अस्पृश्य', 'अजात' है, वह भी उन्हें वायु-से स्पर्श-बोध में 'अधर मर्म्मरयुत, पुलकित अंग' की भाँति दृश्य, स्पृश्य और सुजात लगता है।

पन्त ने अपने 'दर्शन' में किसी राजर्षि की ही श्री ग्रहण की, ब्रह्मर्षि की नहीं। कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी वही राजर्षित्व ग्रहण किया था—

वैराग्य साधने मुक्ति, से आमार नय
असंख्य बन्धन माँझे महानन्द मय
लभिब मुक्तिर स्वाद।

—रवीन्द्र

तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन

—पन्त

× × × ×

एइ वसुधार

मृत्तिकार पात्र खनि भरि बारम्बार
तोमार अमृत ढालि दिबे अविरत
नाना वर्णगन्धमय।

—रवीन्द्र

गन्धहीन तू गन्धयुक्त बन
निज अरूप में भर स्वरूप, मन !

—पन्त

तो क्या हम यह कहें कि रवीन्द्र का या पन्त का कवि, मध्यकाल के सगुण कवियों की भाँति जागरूक रहकर जीवन का उपभोग करना चाहता है ?

यह एक प्रश्न है कि पन्त एकमात्र गान्धीवादी न होकर सम्प्रति मार्क्सवाद-प्रधान क्यों हैं ?

गान्धीवाद में ब्रह्मर्षित्व है। वह निर्गुण पन्थ है, जो उपभोग को नहीं, त्याग को साधन बनाकर जागरूक रहना चाहता है। उपभोग के बजाय त्याग को साधन बना लेने पर समाज में वह वैषम्य नहीं रह जायगा जिसके कारण मार्क्सवाद का उदय

हुआ। गान्धीवाद एक स्थायी स्वास्थ्य है, जब कि मार्क्सवाद एक सामयिक उपचार। एक मानसिक स्वास्थ्य का साधक है, दूसरा शारीरिक स्वास्थ्य का। पन्त ने सम्प्रति शारीरिक स्वास्थ्य पर ज़ोर दिया है, और विवेकानन्द तथा रवीन्द्रनाथ के ही परिवार से वे समाजवाद के कैम्प में गये हैं। पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि उनकी कविता राजसी रही है। उनका सौन्दर्योल्लास ऐश्वर्य से निश्चिन्त जीवन पर अवलम्बित था। आज युग की निरवलम्बता में वे सौन्दर्य-जगत् के उस छिन्न-भिन्न आधार को नवीन संयोजन देने के इच्छुक हैं। भाव-जगत् में जिस प्रकार पन्त ने इतर साहित्य की कला अपनाई, उसी प्रकार वस्तुजगत् में भारत से भिन्न विचार-धारा भी उन्होंने ली। उनमें ऐहिक आकर्षण अधिक होने के कारण वस्तुवादी विचारधारा उन्हें अरुचिकर नहीं हुई। साथ ही, कविता में वे पहिले भाव के सूक्ष्म जगत् के प्राणी रहे हैं अतः गान्धीवाद का अन्तःसत्य भी उन्हें अग्राह्य नहीं—

बापू ! तुमसे सुन आत्मा का तेजराशि आह्वान
हँस उठते हैं रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण

*   *   *   *

भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान
जहाँ आत्म-दर्शन अनादि से समासीन अम्लान।

शारीरिक स्वास्थ्य के लिए समाजवाद के प्रति विश्वास रखते हुए भी वे भौतिक दर्शनवादियों को मानो गान्धीवाद की ओर से इस प्रकार प्रश्न-सजग भी करते हैं—

हाड़-माँस का आज बनाओगे तुम मनुज-समाज
हाथ-पाँव संगठित चलावेंगे जगजीवन-काज !
दया-द्रवित हो गये देख दारिद्रय असंख्य जनों का
अब दुहरा दारिद्य उन्हें दोगे निरुपाय मनों का !
आत्मवाद पर हँसते हो भौतिकता का रट नाम
मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवारकर चाम ?

'मौन-निमन्त्रण' के नेपथ्य-संकेत में पन्त का जो अन्तरोन्मुख रुझान है, वह अब गान्धीवाद के द्वारा उन्हें अन्तर्दर्शन के लिए भी उकसा रहा है। 'बापू के प्रति' शीर्षक कविता में गान्धी-जीवन का परिपूर्ण दर्शन है। ज्ञात होता है कि पन्त ने गान्धीवाद को बड़ी श्रद्धा से समझा है। यदि वे उस श्रद्धा को सार्थक कर सकें तो वस्तुजगत् की दार्शनिकता में गान्धीवाद की आध्यात्मिकता का योग हो जाने से पन्त का नवीन काव्य-साहित्य चैतन्य मांसलता प्राप्त कर सकता है। 'क्या मेरी आत्मा का चिरधन', इस प्रश्न का समाधान इसी सुयोग में है। अभी तो वह मांसलता जड़ीभूत है, वस्तुजगत् की तरह शुष्क।

पन्त का पूर्वकाव्य आज के पन्त को देखकर ऐसा लगता है कि वह मानो किसी वैज्ञानिक के कवि-जीवन का उच्छ्वास हो,

जो अवसर-विशेष पर कभी विश्राम ग्रहण करने के लिए प्रकृति के वस्तुजगत् को छोड़कर उसके भाव-जगत् में गया था। पन्त के वैज्ञानिक में एक दिन उनका कवि एकच्छत्र था, आज उनके कवि में उनका वैज्ञानिक प्रधान है। आज पन्त के इस वैज्ञानिक को वस्तुजगत् के दैन्य कंकाल में जीवन की चैतन्य मांसलता लाने के लिए पुनः काव्य-कला की आवश्यकता है। साथ ही, उनका नवीन कवि फिर भाव-विरत न होकर अपनी सूक्ष्म चेतना में स्थायी हो सके, इसके लिए उन्हें अन्तःशक्ति ग्रहण करनी है। रीतिकाल की भावुकता जिस प्रकार जीवन के कठोर संघर्ष में लुप्त हो गई, उसी प्रकार पन्त के भीतर से पन्त की पिछली कविता भी। संघर्ष को स्वीकार कर उसमें भी कवि को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पन्त में भक्तिकाल के कवियों जैसा आत्मसाक्षात् चाहिए। उसी आत्मसाक्षात् से बापू इस दुर्द्धर्ष वैज्ञानिक जगत् में भी चिरदृढ़ हैं।

कवि जब उत्सर्गशील होता है तभी वह संघर्षों के बीच एक आध्यात्मिक दृढ़ता ग्रहण कर पाता है, तभी उसे आत्मसाक्षात् भी होता है। पन्त में उत्सर्ग नहीं था, व्यथा की गम्भीरता नहीं थी, था सुख-सुषमा का चाञ्चल्य—'निज सुख से ही चिर-चञ्चल मन !'

हाँ, पन्त के कवि में पहले उपभोग नहीं था, उत्सर्ग नहीं था, थी एक मुग्धता, एक नयन-सुख !

उनकी कविता जीवन के संघर्ष में नहीं, जीवन के प्रहर्ष में ही ग्राह्य हुई। पन्त से इतर मैथिलीशरण, प्रसाद, माखनलाल, निराला, नवीन, रामकुमार में उपभोग्यता थी, (यद्यपि इन लोगों की कविता भी राजसी ही है) तथापि, इनमें पाने और खोने का हर्ष-विषाद है, सांसारिक आवेग-प्रवेग का उद्वेग है, फलतः ये लौकिक जीवन के लिए विदग्धकर हुए।

इधर महादेवी की कविता उत्सर्ग को, निर्वाण को, त्याग को ही लेकर चली, पन्त की काव्य-दिशा के अन्तिम छोर पर—मुग्धता और उपभोग्यता की सीमा का अतिक्रमण कर। इसी लिए जब कि महादेवी के कवि को पीछे लौटने की ज़रूरत नहीं पड़ी, पन्त को आगे बढ़कर मुग्धता से उपभोग्यता में आना पड़ा।

एक निरीह भावुकता के कवि-देश से उठकर पन्त आज के रागात्मक जगत् में आये हैं। जिस नये संसार के रागात्मक उपभोग को वे चाहते हैं, उससे भी कभी उपराम होगा; जीवन की बाह्य प्रगति उन्हें (या, उनके नये संसार के किसी अन्य प्रतिनिधि कवि को) एक अन्तप्रगति भी देकर उत्सर्ग की ओर ले जायगी। जिस नये संसार की उपभोग्यता से पन्त कभी उत्सर्ग की ओर जायँगे, उनका वह अज्ञात-भविष्य महादेवी के काव्य का नवविकास होगा। जीवन को सार्थक करने के पन्थ भिन्न-भिन्न हैं। पन्त प्रवृत्ति-प्रधान हैं, महादेवी निवृत्ति-प्रधान; पन्त के भावी विकास में यह भिन्नता नहीं रह जायगी—

भूरि-भिन्नता में अभिन्नता
छिपा स्वार्थ में सुखमय त्याग
—पन्त

पन्त का पूर्वकवि, कठिन बचपन नहीं, कोमल बचपन लेकर आया था, उसमें माँ की श्री थी; इसी लिए उसकी कोमलता में करुणा का संस्कार भी था। उस संस्कार के विकास के लिए गंगाजल (आर्द्रता) चाहिए था, किन्तु परिस्थितियों के मरुस्थल में वह असमय ही झुलस गया। आज के दुस्सह क्रन्दन और असह्य पीड़न में उस शैशव का युवक-कवि अपनी हँसी-ख़ुशी भूल गया; उसने कहा—

अपने मधु में लिपटा पर
कर सकता मधुप न गुञ्जन,
करुणा से भारी अन्तर
खो देता जीवन-कम्पन।

साथ ही—

बन की सूनी डाली पर
सीखा कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख को अपनाना।

किन्तु—

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन।

आज के पन्त में जिस दिन सुख-दुख का 'मधुर मिलन' होगा, उसी दिन उनकी सुख-विह्वल कल्पनाशीलता वास्तविकता के मृत्पात्र में अक्षय मधु होकर ढल जायगी। अभी तो उनमें कल्पनाशीलता अलग है, वास्तविकता अलग।

पन्त जी इतने सुकुमार रहे हैं कि वे सुख-सुषमा को भी कल्पना-जगत् में ही ग्रहण कर सके हैं, भावना (जो कि अनुभूति का एक मूर्त्त मनोरम मॉडल है) वे उसका अतिक्रम कर उसकी चरम सीमा (कल्पना) पर चले गये। जितना ही आगे वे गये उतना ही पीछे लौट भी पड़े, भावना के बजाय वास्तविकता के स्थूल दर्शन में आये। जिस वास्तविकता से विरत होकर वे कभी कल्पनाशील हुए थे, लौटकर उसी वास्तविकता की कल्पना-हीन कुरूपता पर असन्तोषी भी हो गये। फलतः 'गुञ्जन' से उनके भीतर एक अन्यमनस्कता व्याप गई—

वन-वन, उपवन—
छाया उन्मन-उन्मन गुञ्जन।

'युगान्त' और 'युगवाणी' से पन्त का असन्तोष बहुत स्पष्ट हो गया। पन्त की कविता का भविष्य क्या है, उनकी दृष्टि से उनकी आकांक्षा का क्या स्वरूप होगा, यह कहना सम्भव नहीं, क्योंकि अभी वे वस्तुजगत् और भावजगत् के बीच एक प्रयोग कर रहे हैं; किन्तु पन्त के ही शब्दों में—

ये आधी, अति इच्छाएँ
साधन में बाधा-बन्धन;
साधन भी इच्छा ही है,
सम-इच्छा ही रे साधन।

—'गुञ्जन'

इसी प्रकार पन्त को वस्तुजगत् और भाव-जगत् में भी एक सामंजस्य लाना होगा और यह कल्पना तथा वास्तविकता के बीच भावना का साहित्य होगा—वस्तुजगत् के आदर्शवाद के साथ काव्यजगत् के आदर्शवाद का एकीकरण, 'लौकिक और प्राकृतिक कला' का सामञ्जस्य इसी में महादेवी की कविता का भी नवविकास हो सकता है। पन्त की नई रचनाओं में इस एकीकरण, इस सामञ्जस्य की प्रतीक कुछ कविताएँ हैं भी, यथा, 'गुञ्जन' में 'तापसी विश्व की बाला' (चाँदनी), 'युगान्त' में 'बाँसों का झुरमुट' तथा 'युगान्त' और 'युगवाणी' की प्रेम-कविताएँ।

अब तक जो कवि, सौन्दर्य को भी कल्पना-जगत् में ही ग्रहण करता आया है, प्रत्यक्ष जगत् में सौन्दर्य्य भी जिसके लिए एक भार था, उस कोमलतम कवि को वस्तुजगत् की रूखी-सूखी वेदना का विषम-भार कितना श्री-हीन कर सकता है, यह पन्त की इधर की अधिकांश कविताओं से सूचित है। गुलाब का सुकुमार फूल जब खिलता है तब खूब खिलता है और जब मुरझाता है तो उतना ही शुष्क भी हो जाता है, यद्यपि उसके

मुरझाने में भी पूर्व-सौन्दर्य की एक रंगत बनी रहती है। पन्त का 'पल्लव' 'गुञ्जन' में अपने भावाकाश से खिसक पड़ा है, 'युगान्त' से वह वास्तविकता की भूमि पर जा पड़ा है। 'गुञ्जन' की रचनाएँ 'पल्लव' के बाद होने के कारण उनमें 'पल्लव' की ताज़गी शेष है, किन्तु 'युगान्त' से काव्यकल्पद्रुम सूख गया है। उस सूखेपन में भी पन्त के पूर्व काव्य-सौन्दर्य की याद दिलाने-वाली जो रंगत शेष है उसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है। अब इसके आगे या तो शेष रंगत भी न रह जायगी या पन्त के काव्य का पुनर्जन्म नवीन शोभा में होगा—

'रूखी री यह डाल वसन वासन्ती लेगी!'

हम विश्वासी हैं।

पन्त की इन नई कविताओं को अभी काव्य-कला की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता, क्योंकि कला तो अभी वे दे नहीं रहे हैं; अभी तो वे अपने विचारों को पंक्तिबद्ध कर स्मृतिबद्ध कर रहे हैं, गद्यकाव्य ('गीतगद्य') लिख रहे हैं। जब काव्य-कला देंगे तब उनके विचार काव्य-चित्र भी उसी प्रकार ग्रहण करेंगे जैसे 'कुछ श्रमजीवी डगमग-पग' में। उसी चित्रकला के विकास में पन्त पर भविष्य में विचार किया जा सकता है। अभी हम उनके विचारों को मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक अवान्तर की दृष्टि से ही देख सकते हैं। यह युग की ट्रेजडी की विकरालता है कि हमने सम्प्रति अपने बीच से पन्त के कवि को खो दिया

है; पन्त पर असन्तोष के बजाय युग के प्रति संवेदनशील होना होगा।

पन्त इस समय गद्यकार हैं।

ओह, पन्त के 'पल्लव' के 'प्रवेश' के सुन्दर गद्य का इतना खुरदुरा रूप हो सकता है! लगता है, हम एक कंकरीली सड़क पर चल रहे हैं। जिस गद्य-भाषा में पन्त नवीन मानवता के विचार दे रहे हैं, उन विचारों में शुष्क मैटर आफ़ फैक्ट तो है, किन्तु कला का फ्लो और फ़ोर्स नहीं। गुप्त, निराला, नवीन, भगवतीचरण के छन्दोबद्ध गद्य अधिक प्रवाह-मय और सशक्त हैं, किन्तु विचारधाराएँ भिन्न होने के कारण, पन्त जो कुछ देना चाहते हैं, वह ये कवि नहीं दे पाते। आज की सामाजिक विरूपता को ये कवि उद्घोषित तो करते हैं, किन्तु उनकी वाणी का दृष्टिकोण मध्ययुग के लोक-निरीक्षण से आगे नहीं है। पृथ्वी की एक पूर्णपरिक्रमा (अब तक का सम्पूर्ण इतिहास) समाप्त होकर जिस नवीन संसार में प्रवेश कर रही है, जहाँ हम एक नये सिरे से समाज-संगठन कर मानव-जीवन का नवीन निर्म्माण करना चाहते हैं, उसे मध्यकालीन समाज का अभ्यस्त कोई कवि ग्रहण ही कैसे करेगा। वह अवसरवादी हो सकता है, युग का व्यक्ति नहीं। फलतः मध्यकालीन समाज के कवि पुराने विकृत जगत् में ही दीवाली की झाड़-बुहार देना चाहते हैं, उस जगत् की संक्रामकता से उन्हें उपराम नहीं हुआ है।

इधर नवीन जगत् के गाद्यिक प्रारम्भ को वर्णमाला देने में पन्त का कवि जिस 'गीतगद्य' को लेकर चला है, वह भी अपर्याप्त है। वह न तो जनता की वस्तु है, न साहित्यिकों की; वह किसी समाजवादी की डायरी का नोट हो सकता है। यदि हम सीधे किसानों और मजदूरों के लिए ही कविता नहीं लिख रहे हैं तो हमें उसमें साहित्य-कला बनाये रखनी होगी, ताकि जनता नहीं तो जनता के प्रतिनिधि उसमें से रस ग्रहण कर अपने रूखे-सूखे तथ्यवाद में मधुर हो सकें।

पन्त यदि गद्य-युग को गद्य की ही वाणी देना चाहते हैं तो वह गीत-गद्य की नहीं, बल्कि गद्य-गद्य की चीज़ है; कविता की नहीं, कहानी की सामग्री है। अतएव, वे अपनी 'पाँच कहानी' के 'पीताम्बर' जैसी कुछ चीज़ें देकर युग को गद्यवाणी, साथ ही नवजात अमूर्त्त-संसार को चित्रवाणी भी दे सकते हैं। पन्त से हमारा साहित्य कथन नहीं, चित्रण चाहता है; क्योंकि, मूलतः वे वक्ता, प्रवचक या प्रचारक नहीं, बल्कि हैं एक युग-प्रवर्त्तक कवि।

[७]

प्रसाद ने जिस छायावाद को चलाया, पन्त ने 'पल्लव' की प्रतिभा द्वारा उसे एक स्वच्छ शरीर तो दे दिया, किन्तु उसे जिस विदग्धता की अपेक्षा थी, वह मिली महादेवी की कविताओं से। पन्त के बारीक रेशमी चित्रपट को पृष्ठिका बनाकर महादेवी ने उत्सर्गशील हृदय को प्राणान्वित किया। प्रसाद ने अपने

नाटकों में गीतिकाव्य का जो अस्तित्व दिया था, महादेवी ने उसे नवीन चेतना दी। प्रसाद का काव्य ऐहिक अधिक है, जब कि महादेवी का काव्य दार्शनिक अनुभूतियों से अधिक अनुप्राणित। प्रसाद में रीतिकाल के शृङ्गार की रसिकता शेष है; महादेवी में भक्तिकाल की मीरा की आत्मा। महादेवी का गीतिकाव्य विश्वात्मा की आराधना का नूतन संकीर्त्तन है। इस संकीर्त्तन में करुणा ने करुणाकर की आरती उतारी है।

प्रसाद ने ही पहले-पहल छायावाद को वेदना दी, किन्तु वह वेदना अपने प्रति अतृप्त और असन्तुष्ट है। किन्तु महादेवी ने वेदना में ही पूर्ण सन्तुष्टि, जीवन की पूर्ण उज्ज्वलता पाई। प्रसाद जी के 'स्कन्दगुप्त' की वह देवसेना अपने को महादेवी के गीतों में ही जीवित रख सकती है, जो कहती है—

'आह, वेदना मिली विदाई !'

अथवा—"कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। सब क्षणिक सुखों का अन्त है। सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए।"

जीवन की अनित्यता में भी जीवन के प्रति एक दार्शनिक अनुरक्ति बनाये रखनेवालों के लिए महादेवी के गीत पाथेय हैं। बुद्ध का अविनश्वर-अनीश्वर यदि सगुण रूप धारण करे और जीवन की अनित्यता करुणा का अमृत रूप पा जाय तो इनके द्वारा जिस पार्थिवता-हीन पार्थिव माधुर्य्य भाव की सृष्टि हो

सकती है, वही महादेवी की कविताओं में है। वह मूर्त्तिमती करुणा ट्रेजडी के अन्धकार में ही, ज्वलित व्यथा के दीपक लिये हुए अभीष्ट को खोजते-खोजते समष्टि को पा जाने की आकांक्षा रखती है यों—

तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख के अवगुण्ठन से,
मैं तुम्हें खोजने के मिस
परिचित हो लूँ कण-कण से।

दुख के माध्यम से समष्टि तक पहुँचने की बुद्ध की यह फिलासफी ही महादेवी की कविता का केन्द्र-बिन्दु है।

[८]

निराला और रामकुमार में भी पार्थिव करुणा की अभिव्यक्ति की विदग्ध-क्षमता है, किन्तु करुणा की दार्शनिक परिणति उनकी नहीं, महादेवी की कला है। निराला के पास एक गम्भीर दार्शनिक हृदय है, इसी लिए गुप्त, माखनलाल और नवीन के उस काव्य-रूप में जो कि आवेग को ही प्रधान बनाकर चलता है, निराला ने भाषा के शरीर और पद-योजना की धड़कन में अन्तर्गम्भीर हृदय भी स्थापित किया। हाँ, यह चिन्तनीय है कि वे हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क की ओर ही बढ़ते चले गये, फलतः कला के चमत्कार में पड़ गये। काव्य का यह रूप कला का चमत्कार लेकर नहीं चल सकता, बल्कि अपनी स्वाभाविक

१४

अभिव्यक्ति में ही सफलता प्राप्त कर सकता है। कला-चमत्कार के लिए जिस प्राञ्जल कल्पनाशीलता की आवश्यकता है, उसका इन कवियों में अभाव है। कल्पना को जब हम मस्तिष्क से छूना चाहते हैं तब वह विश्री हो जाती है, किन्तु जब हम हृदय का स्पर्श देते हैं तब वही सुश्री भी हो जाती है। भावना की तरह कल्पना भी हृदय की ही निधि है। गुप्त और निराला प्रत्यक्ष अनुभवों के ही विदग्ध कवि हो सकते हैं। कल्पना की कला तो एकमात्र पन्त की ही चीज़ रही है, इसी लिए पन्त जहाँ कल्पक हैं वहाँ वे चूड़ान्त कवि हैं, किन्तु वे जहाँ रियलिस्ट होना चाहते हैं वहाँ उनका कवि नहीं रह जाता।

निराला जी की भाँति ही गुप्त जी भी जहाँ कहीं कला के चमत्कार में पड़ गये अथवा कल्पना की कला देने लगे, वहाँ वे भी विरस हो गये; जैसे, 'साकेत' के नवम सर्ग में उर्मिला के विरहोद्गारों में। किन्तु जहाँ उनकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक है, वहाँ वह मर्म्मस्पर्शिनी हो गई है; यथा 'साकेत' के द्वादश सर्ग में लक्ष्मण और उर्मिला का विरह-दग्ध मिलन। निराला जी भी जहाँ कहीं स्वाभाविक हैं, वहाँ ख़ूब हैं; जहाँ मस्तिष्क-प्रधान या बुद्धिमान् हैं वहाँ परिश्रमी और दुरूह हैं। इधर पन्त जी भी मस्तिष्क के क्षेत्र में आकर निराला इतना दुरूह तो नहीं हुए, किन्तु निराला जितनी श्री भी न दे सके, ठीक उसी प्रकार जैसे कल्पनाशीलता में पन्त जितनी श्री निराला न दे सके।

[९]

कविता में निराला और पन्त के बीच के एक व्यक्तित्व हो सकते थे पण्डित इलाचन्द्र जोशी। बहुत पहिले से कविताएँ लिखते हुए भी वे प्रकाश्य रूप से काव्यक्षेत्र में निराला और पन्त के बाद आये हैं। 'विजनवती' द्वारा हम उनके कवित्व से परिचित हो सकते हैं। जोशी जी को जब हम निराला और पन्त के बीच का व्यक्तित्व कहते हैं तब हमारे सामने दो काव्य-गुण आते हैं:—ओज और लालित्य (माधुर्य)। इन दोनों काव्यगुणों का जोशी जी की कविता में एक सम्मिश्रण हुआ है। निराला में प्रखर पौरुष है, पन्त में प्रसन्न शैशव, जोशीजी में विदग्ध यौवन।

पन्त की तरह ही इस पर्वतीय कवि को भी निसर्ग-शोभा ने अलंकृत किया है; यद्यपि वे उतने प्रांजल नहीं हैं, गद्य-संस्कार ने उनके लालित्य को सम्पूर्णतः मधुर नहीं बना दिया है, तथापि उनकी कविता में छायावाद की सादगी की एक मनोहरता है। ऐसा लगता है, मानो निराला का ओज पन्त के लालित्य से निखर सकता हो।

गृहस्थों की तरह ही जोशी जी ने जीवन में कुछ पौराणिक विश्वास बसा लिये हैं—मृत्यु, पुनर्जन्म, संघर्ष का वरण और करुणचेतना की अनन्त यात्रा में एक मरणोत्तर आशावाद। गृहस्थों की तरह ही वे सुख-दुःख से हर्षित-विमर्षित होते हैं,

जीवन-वन में आनेवाले वसन्त और पतझड़ के कोमल-कठिन स्पर्श में सृष्टि की तरह। वैज्ञानिकों की भाँति वे उसके प्रति सचिन्त्य और प्रयत्नशील नहीं, कारण वे गृहस्थों की तरह ही जीवन का सञ्चालक किसी मानवेतर शक्ति को पाते हैं, वह उन्हें हुलसाती है तो वे हुलस पड़ते हैं, झुलसाती है तो झुलस पड़ते हैं। जहाँ वे आनन्दित होते हैं वहाँ वैष्णव हैं, ललित हैं; जहाँ तप्त, वहाँ शैव हैं। यही द्वित्व व्यक्तित्व उनके कवित्व में है।

उनकी कविताओं में एक आध्यात्मिक प्रणय-रूपक भी है। संसार में उनका कवि एक प्रवासी की तरह है, जन्म-जन्मान्तर में प्रवास करता हुआ चलता है, उनकी 'ज्योत्स्ना विहर रही है करुणाशीला'—जैसी आइडियल जीवन-प्रतिमा जो कि अन्धकार में ज्योत्स्ना की भाँति ही स्निग्ध-करुण चिदानन्द का आभास देती है, उन्हें उनकी अनन्त यात्रा में आशा की शुभ्र ज्योति प्रदान करती है। प्रवासी होने के कारण ही एक आइडियल अतीत, जो किसी युग में, किसी जीवन में मधुर हो सका है,—वह उनकी यात्रा का पाथेय है। यह प्रवास उनके कवि को पार्थिव जगत् में भी किसी बटोही को देखकर सम्पूर्ण सुख-दुख में जो उसका एक मनोवाञ्छित मनोरम संसार निहित है, उस संसार के प्रति लालायित कर जाता है—

मेरे इस निर्जन निकुञ्ज में
आओ, आओ परदेसी!

नये सिकोरे में शीतल जल
तुम पी जाओ परदेसी !

परदेसीपन जोशीजी की कविता की हाबी जान पड़ती है, बिछोह का छोह उसका आनन्द।

गार्हस्थिक मनोभावना के कवि होने के कारण उनके शब्दों और अभिव्यक्तियों में यथास्थान एक वैसी ही स्वाभाविकता भी है। उनका शब्द-चयन, उनका शैली-विन्यास, ठेठ छायावाद का सूचक है। यदि उनका कवि समाप्त नहीं हो गया है तो 'विजनवती' के बाद उनसे किसी अन्य काव्यकृति की आशा की जाती है।

[१०]

मुक्तक और प्रबन्धकाव्य के बाद, छायावाद की कविता इस समय गीतिकाव्य की दिशा में है। महादेवी के गीत नवयुवकों में लोकप्रिय तो हैं ही, साथ ही, 'नवीन' और रामकुमार ने भी गीतिकाव्य को सङ्गीत दिया है। अन्ततः निराला का गीत-स्कूल अपने कला-भार के कारण अग्रसर नहीं हुआ, इधर पन्त ने खड़ीबोली को परिपूर्ण लालित्य देकर कविता से तात्कालिक विश्राम ले लिया। फलतः छायावाद के साहित्य में गीतिकाव्य का प्राधान्य है, जिसकी त्रिवेणी उक्त कवि-कण्ठों से निःसृत होकर भाव-काव्य को जीवन दे रही है। गीतिकाव्य

की इस त्रिपथगा में गोमुखी महादेवीजी ही हैं। 'नीरजा' के बाद से शेष दोनों कवियों का गीति-काव्य प्रारम्भ होता है। महादेवी के उद्गम तक पहुँचने के पहिले हमें 'नवीन' की सीमा पार करनी पड़ेगी, उसके बाद रामकुमार की सीमा, क्योंकि ये सीमाएँ उसी मूलस्रोत के पार्थिव तट हैं। इसी लिए इनकी टेक और शैली में थोड़ा बहुत सादृश्य मिल जाता है, यद्यपि जीवन की धाराएँ भिन्न-भिन्न हैं।

'नवीन' अपने विविध रचना-क्रम से पन्त और निराला से भी सीनियर हैं, किन्तु गीति-रचना में जूनियर।

'नवीन' शुरू से ही शरीर-प्रधान कवि रहे हैं। शृङ्गार और राष्ट्रीयता ये दो विरोधी रस लेकर वे चले हैं, किन्तु बाहर से दो विरोधी होते हुए भी दोनों वस्तुतः एक ही शारीरिकता की अभिव्यक्ति हैं। वीरगाथा-काल के कवि जिस प्रकार एक ओर रण-संग्राम करते थे, दूसरी ओर शृङ्गार की अभ्यर्थना भी, उसी प्रकार अपनी शारीरिक अभिव्यक्ति में 'नवीन' की कृतियाँ हैं। कहीं-कहीं यह अभिव्यक्ति आवश्यकता से अधिक उत्कट हो गई है। कबीर ने जिस अक्खड़ता से सांसारिक जीवन के प्रति विरक्ति प्रकट की है, उसी अक्खड़ता से नवीन ने शारीरिक जीवन के प्रति आसक्ति। नवयुवकों में वह उन्मादक-सी हो जाती है। सब मिलाकर 'नवीन' माखनलाल-स्कूल के एक अतिरंजित यौवन हैं। यही कवि अपने गीतिकाव्य में कुछ

कोमल सरस होकर भी आया है, मानों कठिन तरु में मर्म्मर-संगीत बजा हो।

रामकुमार का गीतिकाव्य 'नवीन' के गीतिकाव्य से अपेक्षाकृत स्वच्छ सुघर है। उनमें पन्त और महादेवी के बीच का व्यक्तित्व है। पन्त का सौन्दर्य-संस्कार और महादेवी का आत्मबोध अपनी रुचियों, आकांक्षाओं और अनुभूतियों के अनुरूप हृदयंगम कर रामकुमार ने अपने गीतिकाव्य की सृष्टि की है। रामकुमार द्वारा पन्त के सौंदर्य-बोध को महादेवी का कुछ चिन्तन एक हलके संकेत में मिल जाता है। सौन्दर्य को चाहकर भी रामकुमार क्षणभंगुरता को भूले नहीं हैं।

रामकुमार ने जीवन में नश्वरता को देखकर भी नश्वरता पर कभी विश्वास नहीं किया, जब कि महादेवी के लिए नश्वरता एक विश्वसनीय विकास है; अनन्त प्रगति की एक विश्वगति। इस दृष्टिभेद का कारण यह कि रामकुमार ने जीवन को गणित करके, खण्ड-खण्ड करके देखा है, जब कि महादेवी ने अगणित करके, समष्टि से शृंखलित करके। इसी लिए, रामकुमार में पार्थिवता के प्रति एक साकांक्ष मोह है, जब कि महादेवी का कवि पार्थिवता में एक अपार्थिव संकेत ग्रहण करने के लिए ही विशेष विकल है। जब कि रामकुमार का मुग्धहृदय कसक उठता है—

देखो वह मुरझा गया फूल

तब महादेवी का कवि निरुद्वेग होकर कहता है—

'विकसते मुरझाने को फूल'।

नश्वरता में सृष्टि का जो गतिशील सत्य है, महादेवी उसी के प्रति जागरूक हैं—

अमरता है जीवन का ह्रास,
मृत्यु जीवन का चरम विकास।

रामकुमार के सामने तो यह प्रश्न है 'नश्वर स्वर में कैसे गाऊँ, आज अनश्वर गीत?' नश्वरता ने उन्हें अभिभूत कर लिया है। पार्थिव जीवन के प्रति उन्हें इतनी माया-ममता है कि नश्वरता उनके सम्मुख सौन्दर्य के एक 'अभिशाप' के रूप में ही आती है, जब कि महादेवी के सम्मुख अनन्त का एक वरदान होकर। निदान, रामकुमार के चिन्तन में रूप प्रधान है, महादेवी के चिन्तन में प्रेम।

अनुभूतियों में प्रकारान्तर होते हुए भी दोनों ने जीवन में करुणा को प्रधानता दी है। महादेवी की करुणा में एक परोक्ष अनुभूति है, रामकुमार की करुणा में एक बोलता हुआ प्रत्यक्ष शरीर। ट्रेजडी के पार्थिव युग को जीवन देने के लिए आज के पन्त के 'रूपकार्म' में जो कुछ है, उसे रामकुमार करुणा का साकार स्वर दे सकते हैं। निराला की भाँति ही वे भी पार्थिव करुणा में सक्षम हैं। अपने पार्थिव स्केल पर वे महादेवी की अपेक्षा करुणा को अधिक उभार सकते हैं। परन्तु महादेवी की

करुणा अन्तःसलिला की धारा-सी है जो बाहर कम भीतर अधिक प्रत्यक्ष है; यह वह करुणा है जिससे पार्थिवता को अतल जीवन मिलता है।

रामकुमार के बाद, हमारे साहित्य में छायावाद के जो जूनियर कवि आ रहे हैं, वे छायावाद के परिपूर्ण विकास के छोटे-छोटे कण हैं, तुहिन-विन्दु हैं। वे भावजगत् के लिए आकर्षक हैं, यद्यपि इनमें बहुत से मृगमरीचिवत् भी हैं।

[११]

आज खड़ीबोली की कविता मध्ययुग की पार्थिवता से निकलकर छायावाद तक पहुँची है, अब छायावाद से निकलकर वह फिर पार्थिवता की ओर जा रही है। अन्तर यह है कि तब की पार्थिवता अमीर और ग़रीब के बीच कम-बेश होकर बँटी हुई थी, अब वह समग्र समाज के बीच सन्तुलित होने जा रही है। इसकी ज़रूरत भी है। आज के पीड़ित भू का अपार क्रन्दन, अपार उच्छ्वास तोपों की गड़गड़ाहट में नहीं भुलाया जा सकता। मुट्ठी भर मनुष्य नामधारी दानव पृथ्वी के साथ खुल-खेल रहे हैं, उनके अत्याचारों का अकूल-व्यापी समुद्र विकराल दैत्य-सा मुँह फैलाये हुए पृथ्वी को ग्रस लेना चाहता है। कवि रामकुमार के शब्दों में—

वारिधि के मुख में रखी हुई
यह लघु पृथ्वी है एक ग्रास;

जिसमें रोदन है कभी, या कि,

रोदन के स्वर में अट्टहास।

यह आध्यात्मिक रूप से निस्सार विश्व का जितना नश्वर चित्र है उतना ही पार्थिव रूप से आज के व्यथित जगत् का विक्रान्त चित्र भी। यदि इस दुर्दान्त दृश्य का शीघ्र अन्त न होगा तो अत्याचारों का समुद्र ही असंख्य पीड़ितों का अश्रुसिन्धु बन जायगा और आज की बची खुची पृथ्वी उसमें लुप्त हो जायगी। यह प्रलय-काल है। आज मनुष्य के जीवित रहने का, पृथ्वी के डूबते हुए अस्तित्व की रक्षा का प्रलयङ्कर प्रश्न है। समाजवाद यदि इस प्रश्न को हल कर सके तो इससे अधिक खुशी की बात और क्या हो सकती है। लेकिन ध्यान रखना होगा कि पृथ्वी को बचाने का अर्थ है—मनुष्य की चेतना का विकास करना। जो बाह्य सामाजिक शासन आज की विषम पार्थिवता को सन्तुलित कर सकता है, वह होगा समाजवाद; किन्तु मनुष्य अपने मनोविकारों से फिर वैषम्य की ओर न चला जाय, इसके लिए जिस आन्तरिक शासन की आवश्यकता होगी, वह होगा गान्धीवाद। इस प्रकार आज के संसार में नवोदित समाजवाद और चिरन्तन गान्धीवाद के अंगांगि होने की आवश्यकता है, माया और ब्रह्म की तरह। समाजवाद के बिना हम पंगु हो जायँगे; गान्धीवाद के बिना पशु। प्रगतिशीलता केवल चलते रहने की क्रिया का नाम नहीं है, चलने को तो पशु

भी चलते हैं। मनुष्य मनुष्य होकर चल सके, इसके लिए गान्धीवाद की आत्मा चाहिए। गान्धीवाद ही रहस्यवाद है, अपनी कलात्मक अनुभूतियों में छायावाद उसी का एक सबजेक्टिव स्टेज भी है।

समाजवाद समाज के रुग्ण शरीर में जो क्रान्ति चाहता है, गान्धीवाद उसकी अवज्ञा नहीं करता, वह नहीं चाहता कि समाज अपनी रुग्णता के असह्य पीड़न में छटपटाये। वह तो अहिंसक होते हुए भी यन्त्रणा-विदीर्ण गौशिशु को विष का इन्जेक्शन देकर मुक्ति दे सकता है। इतना कठोर है वह अपनी करुणा में! किन्तु उसका निवेदन यह है कि आप समाज को जो नवीन शरीर देना चाहते हैं, वह केवल स्नेहहीन दीपक की भाँति हाड़-मांस का शरीर मात्र होगा या उसमें कुछ अन्तर्ज्योति भी होगी?

मनुष्य जब-जब अचेतन होने लगता है, तब-तब संसार में गान्धीवाद आता है, कभी बुद्ध के स्वरूप में, कभी ईसा के रूप में। इसी प्रकार काव्य जब-जब मैटर आफ़ फ़ैक्ट होने लगता है तब-तब छायावाद का उदय होता रहता है। हम अपने साहित्य में वीरगाथा-काल से अब तक इस क्रम को स्पष्ट देख सकते हैं। वीरगाथा-काल में जो हिन्दी कविता कभी शोणित में डूबी हुई तलवारों की नोक से लिखी गई, वही कविता त्राहि-त्राहि कर भक्त कवियों की शरण में भी गई।

भक्तिकाल के बाद रीतिकाल के कवियों ने जब कविता को एकमात्र वनिता बना दिया, मुग़ल ऐश्वर्य को सौन्दर्य में घनीभूत कर दिया, तब भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग ने उसे वनिता से जनता के बीच ला उपस्थित किया। हाँ, मुग़ल-काल के बाद की जनता का संसार बदल गया। समुद्र पार से जो सर टामस रो आया था वह अपने व्यापारिक निवेदन में न केवल बृटिश शासन का गुपचुप पैग़ाम ले आया था, बल्कि हिमालय के हिम-शिखरों को संसार की नवीन सामुद्रिक सीमाओं का परिचय भी दे गया था। फलतः आज का पार्थिव भारत फिर विशाल-भारत हो गया है। कौन जाने वह फिर किसी दिन अपने बुद्ध के आध्यात्मिक स्वरूप का भी विस्तार न करेगा!

हाँ, तो द्विवेदी-युग ने मध्ययुग के बाद का संसार पाया था। नये युग के नये भौतिक सत्यों को उसने अपने अविकच प्रयासों से स्पर्श करना प्रारम्भ किया था। उसका साहित्य और उसका समाज भी वैसा ही अविकच हुआ। परिपक्व विकास में हमारे साहित्य और समाज में आ गया छायावाद और गान्धीवाद। यह विकास वीरगाथा-काल के बाद भक्तिकाल की भाँति है। किन्तु भक्तिकाल के बाद जिस प्रकार रीतिकाल की कविता आई उसी प्रकार छायावाद के बाद अब समाजवादी यथार्थवाद भी आ रहा है। हाँ, उसका मैटर आफ़ फ़ैक्ट न केवल मध्यकाल के, बल्कि द्विवेदी-युग के भी बाद के संसार

का है, इसलिए वह अपने वस्तुजगत् में द्विवेदी-युग से भिन्न है, किन्तु काव्यकला में उसी प्रकार अपरिपक्व है, जिस प्रकार द्विवेदी-युग के प्रारम्भ की कविताएँ। द्विवेदी-युग के मैटर आफ़ फ़ैक्ट ने जैसे छायावाद का विकास ग्रहण किया, कौन कहे उसी प्रकार समाजवादी यथार्थवाद भी फिर किसी छायावाद को न ग्रहण करेगा! ब्रजभाषा के पतझड़ में भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग गद्ययुग होकर आये थे। इसके बाद छायावाद द्वारा पुनः काव्ययुग आया। इसके बाद एक और नूतन गद्ययुग आ रहा है। इस गद्ययुग के बाद फिर क्या काव्य-युग का उदय न होगा? छायावाद के आविर्भाव के लिए जिस प्रकार द्विवेदी-युग में कुछ बैकग्राउण्ड बने, उसी प्रकार समाजवाद के द्वारा भी छायावाद के लिए नये बैकग्राउण्ड बनेंगे।

नवीन जगत् में छायावाद का जब फिर उत्कर्ष होगा तब गीतिकाव्य के भीतर से ही वह अपनी धरोहर को सँजोयेगा, क्योंकि आज के प्रलयकाल में छायावाद अपने को उसी में सुरक्षित कर रहा है। यों भी कोई भी नवीन प्रभात संगीत से ही अपना प्रारम्भ करता है।

छायावाद केवल एक काव्यकला नहीं है। जहाँ तक साहित्यिक टेकनिक से उसका सम्बन्ध है वहाँ तक वह कला है और जहाँ दार्शनिक अनुभूतियों से उसका सम्बन्ध है वहाँ वह एक प्राण है, एक सत्य है। अतएव छायावाद, काव्य की केवल

एक अभिव्यक्ति ही नहीं, बल्कि इसके ऊपर एक श्रेष्ठ अभिव्यक्ति भी है। 'छाया' शब्द यदि उसकी कला के स्वरूप (अभिव्यक्ति) को सूचित करता है तो 'वाद' उसके अन्त:प्रकाश (अभिव्यक्त) को। छाया की तरह उसके कलारूप में परिवर्तन होता रहता है, किन्तु उसका प्रकाश अक्षुण्ण रहता है। उस प्रकाश के विकीर्ण होने का जगत् बदल सकता है, उसके छायाचित्र बदल सकते हैं, किन्तु उसकी चित्रात्मा नये-नये टेकनिकों में भी अक्षय रहेगी।

——

हिन्दी-गीतिकाव्य

[१]

हिन्दी-गीतिकाव्य का इतिहास उस सरिता का इतिहास है, जो भरपूर लहराकर बीच में ही सूख गई। शृङ्गार-काल में जो सामाजिक मृग-मरुस्थल मिला, उसी में समाकर बीच-बीच में वह अपने पूर्व अस्तित्व का आर्द्र परिचय कवित्त और सवैयों में देती रही। आधुनिक युग में वह फिर एक स्वतन्त्र भिरभिरी के रूप में फूट पड़ी, मानो उसे अनुकूल भूमि मिल गई हो।

आज तो प्रायः सभी नवयुवक गीत ही लिख रहे हैं। सच तो यह है कि अब के छायावाद ने अपनी एक विशेष प्रगति गीतों की ओर कर ली है। इसका कारण यह है कि या तो यह कविता का युग नहीं है, या, यदि युग कविता को प्यार कर सकता है तो गीतों में, जहाँ वह कर्म्म-श्रान्त विहग की तरह किसी डाल पर कुछ क्षण चहक ले। इस युग में भी मध्यकाल की ही भाँति सौन्दर्य्य-लालसा और विरह-क्रन्दन है; इसका कारण युग की वह विकट ट्रेजडी है जिसने पुञ्जीभूत होकर सन्तप्त मनुष्यों के मन में कोमलता की प्यास और भी तीव्रता से जगा दी है, मानो वैज्ञानिक युग का शुष्क कण्ठ सजल सङ्गीत चाहता हो। कदाचित् यह युग गीतों की दिशा में उतनी शताब्दी तक आगे जाय

जितनी शताब्दियों तक वैष्णव-गीतिकाव्य के बाद से उसकी प्रगति रिक्त थी।

वर्तमान युग में जिस प्रकार राजनीतिक अकाल फैला हुआ है, उसी प्रकार अतीत के ऐतिहासिक युग में नैतिक अकाल पड़ने पर गीतिकाव्य का अमृत-वर्षा फुहराया था। गत युग के गीतिकवि मरे नहीं; उन्होंने अपने को रूपान्तरित कर दिया। आज वे उसी रूप में इसलिए नहीं आये कि युग का जीवित व्यक्तित्व न ग्रहण करने पर बीसवीं शताब्दी का पास छिन जाता।

युग ने कविता को समाप्त कर दिया, इस कथन में सन्देह जान पड़ता है, क्योंकि घोर वैज्ञानिक लौह-हाथों ने भी अपनी जीवन-तृष्णा को सङ्गीत के परदों में छिपाकर वाद्य-यन्त्रों के सभ्य रूप में उपस्थित कर दिया है। विज्ञान काव्य की भाषा नहीं जानता, इसी लिए उसने 'मेघदूत', 'हंसदूत' या 'पवनदूत' न भेजकर सङ्गीत के क्षेत्र में भी 'यन्त्रदूत' ही भेजा है। वह यान्त्रिक जड़ता मानो कवि से चेतना की भीख माँग रही हो।

[२]

शृङ्गार-काल से गीतिकाव्य का अवरोध, भारतीय जीवन की एक भिन्न प्रगति का सूचक है। मुग़ल-शासन एक भिन्न जीवन लेकर आया था। उससे चिरप्रवाहित हिन्दू-जीवन का स्रोत बदल गया। दूरदर्शी अकबर ने हिन्दू और मुसलमानों के

मेल से एक नवीन सामाजिक जीवन को जन्म दिया। इस नवीन जीवन में हिन्दू-धर्म ने पूजा-गृहों में ही स्थान पाया, घरेलू जीवन में इसलामी लौकिकता का प्रचार हुआ। रसिकता की बाढ़ आ गई। वैष्णव-गीतिकाव्य में भक्तों की जो साधना थी उसके बजाय शृंगारिक कविताओं में विशेषतः गृहस्थों की प्रणय-आराधना प्रकट हुई।

शृंगारिक कवियों ने गीतिकाव्य को अपना जीवन नहीं दिया। इसका कारण, गीतिकाव्य में भक्तों की वह गीताञ्जलि थी जो भगवान् के सिवा और किसी को अर्पित नहीं की जा सकती थी। गीतिकाव्य धर्मपरायणों का संकीर्त्तन था। सभी अपने 'प्रेयर' में भगवान् को गीताञ्जलि देते हैं। भारतीयों के लिए संगीत-कला आत्मकल्याण का साधन थी। महर्षि सामवेद की ऋचाएँ गाकर परमात्मा को रिझाया करते थे। उनके वंशज देव-मन्दिरों में ही संगीत-समारोह करते थे। शृंगारिक हिन्दू कवि गीतों की इस पवित्रता को समझते थे, इसी लिए उन्होंने उसे दूषित नहीं किया। दूसरी तरफ़ उन्हें नये सामाजिक जीवन को अङ्गीकृत करना अनिवार्य हो गया। पूर्वजों की गीत-क्षुधा शृंगारिक कवियों की आन्तरिक भूख में भी थी किन्तु नवीन शासन में वे धर्म्म-संकट में पड़ गये। एक ओर उन्हें गीतिकाव्य की मर्यादा को अक्षुण्ण रखना था, दूसरी ओर उन्हें अपने हृदय की साँस लेनी थी। फलतः

गीतिकाव्य को उन्होंने देवता का निम्मोल्य बने रहने दिया, साथ ही उस रसिकता को जो शाही दरबारों में संगीत के रूप में प्रकट हो रही थी, अपनी कविताओं में यथाशक्ति हिन्दूमर्य्यादा से बाहर नहीं जाने दिया। उनके समय में गीतिकाव्य और प्रबन्ध-काव्य—काव्यकला के ये दो रूप उपस्थित थे। शृंगारिक कवि, प्रबन्ध-काव्य की ओर बढ़ सकते थे, क्योंकि 'मानस' में गोस्वामीजी ने सभी प्रकार के जीवन-क्षेत्रों के लिए रस-स्रोत उद्गत कर दिया था। केशव ने 'रामचन्द्रिका' और पद्माकर ने अपने 'राम-रसायन' द्वारा उस ओर बढ़ने का प्रयत्न भी किया था; किन्तु उनसे पूर्ववर्ती शृङ्गारिक कवियों ने ही अपने मुक्तक पदों से अपनी असमर्थता दिखला दी थी कि प्रबन्ध-काव्य उनकी प्रतिभा का क्षेत्र नहीं। उनका क्षेत्र गीतिकाव्य का ही क्षेत्र था क्योंकि इस दिशा में इतनी अधिक साहित्य-सृष्टि हो चुकी थी कि वह उनके लिए अनभ्यस्त नहीं हो सकती थी।

सामाजिक आदर्श उपस्थित करने के लिए प्रबन्ध-काव्य का जन्म होता है। तत्कालीन सामाजिक जीवन में हिन्दुओं के लिए आदर्श नहीं था। शृंगारिक कवि तत्कालीन वर्तमान की ही प्रजा थे। फलतः अतीत की सर्वश्रेष्ठ प्रजा गोस्वामीजी के हाथों ही वह आदर्श बदा था।

तुलसी की भाँति प्रबन्ध-काव्य का नवीन प्रशस्त क्षेत्र ग्रहण करने के लिए जिस विपुल आत्मसाधना की आवश्यकता थी,

वह शृङ्गारिकों में न थी। यदि होती तो गीतिकाव्य का क्षेत्र ही ग्रहण कर लेने में शृङ्गारिकों को क्यों सङ्कोच होता? विशद भक्ति के समान ही विशद प्रतिभा का जीवन न प्राप्त होने के कारण ही वे तुलसी की प्रबन्ध-शैली की ओर भी न बढ़ सके। उन्होंने गीतिकाव्य और प्रबन्ध-काव्य के बीच का मध्यपथ कवित्त और सवैयों में ग्रहण किया। कवित्त और सवैया, भक्तिमय गीतिकाव्य के ही शृङ्गारिक रूपान्तर हैं। शृङ्गारिक कवियों की प्रतिभा गीतिकाव्य की प्रतिभा थी। यदि धर्म्म-मर्य्यादावश उन्हें गीतिकाव्य को न छोड़ना पड़ता तो हिन्दी-गीतिकाव्य का इतिहास वर्तमान युग तक अविच्छिन्न चला आता और आज उसका पुनर्जन्म नहीं, बल्कि दीर्घ जीवन ही बहता हुआ दीख पड़ता।

शृङ्गारिकों के इस क्षेत्र से हट जाने पर, शाही दरबार 'गीतिकाव्य' के लिए 'कोर्ट ऑफ़ वार्ड्स' बना। गीतिकाव्य दरबारों के संरक्षण में जाकर 'गायन' हो गया। धीरे-धीरे गीतों में 'शिव-पार्वती' के स्थान में 'राधा-कृष्ण' के नाम आये और फिर उन्हें भी हटाकर 'सैयाँ-पिया' ही विशेष रूप से रह गये। आधुनिक युग में जब हमारा नवीन साहित्य बालिग़ हुआ, तब वह 'कोर्ट ऑफ़ वार्ड्स' के हाथों में पड़े हुए गीतिकाव्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसने उत्तराधिकार में निर्गुण और सगुण की भक्ति ली, तथा कवित्त और सवैयों में सौन्दर्य और प्रेम की छिपी

हुई भूख-प्यास भी। साधारण जनता ने मुग़ल सामाजिक जीवन के अवशेष-संगीत-स्वरूप सैयाँ और पिया को भी अपनाया। ग़नीमत यह कि 'सैयाँ-पिया' सिनेमा के चित्रपट पर ही अधिक दर्शन देते हैं, साहित्य के हृत्पट पर कम। इधर सिनेमा के गीतों में भी कुछ उन्नति हुई है। उनमें साधारण सुबोध भाषा में भाव-सौन्दर्य्य भी उसी अनुपात में रहते हैं जितने कि वे भारी न पड़ जायँ। फिर भी भाषा की शुद्धता की गुञ्जाइश है। सहज हिन्दी में उर्दू कवियों द्वारा जो गीत लिखे जा रहे हैं वे सुबोध, मार्म्मिक और सुसाहित्यिक हैं, सिनेमा के गीतों के लिए आदर्श हो सकते हैं।

[३]

आधुनिक युग में गीतिकाव्य ने नाटकों में प्रथम स्थान बनाया। यदि मध्ययुग में गद्य का विस्तार हो सका होता तो शृङ्गारिक कवियों को गीतिकाव्य की अपनी प्रसुप्त आत्मा को उसी में जगाने का अवसर मिलता, प्रबन्ध-काव्य की प्रतिभा के अभाव में भी अपने भावों के लिए उन्हें एक सङ्गीत-पथ मिल जाता; यदि उनमें नाटकीय प्रतिभा होती। किन्तु प्रबन्ध-काव्यों की ओर उनका झुकाव न होना, इस प्रतिभा का अभाव सूचित करता है।

सामूहिक चेतना के कारण गद्य का गौरव आधुनिक युग में बढ़ा। भारतेन्दु ने नाटकों द्वारा आधुनिक युग का स्वागत किया।

गतयुग की आत्मा के स्मृति-स्वरूप उनके नाटकों में संगीत ने स्थान पाया। जिस सामूहिक चेतना को लेकर भारतेन्दु खड़े हुए उसी के अनुरूप उनका संगीत था, उसमें साहित्यिक छटा नहीं थी। भारतेन्दु को उसे साहित्यिक छटा देने का ध्यान भी नहीं था, क्योंकि मध्यकाल की शृंगार-परम्परा में वे अपने मुक्तक पदों से ही परितृप्त थे।

हिन्दी नाटकों को प्रारम्भतः, संस्कृत-नाट्यकला का आधार मिला। युग के अग्रसर होने के साथ-साथ ज्यों-ज्यों हमारे साहित्य का आधुनिक सम्पर्क बढ़ता गया, त्यों त्यों हमारी साहित्य-कला अपनी प्राचीन परिधि से आगे बढ़ने लगी। 'प्रसाद' ने नाट्यकला को भारतेन्दु-युग से आगे बढ़ाया। प्रारम्भ में वे भी अपने नाटकों में भारतेन्दु की संस्कृत नाट्यशैली से प्रेरित थे, यथा—'सज्जन', 'विशाख' और 'राज्यश्री' के प्रथम संस्करणों में। किन्तु बीसवीं शताब्दी की साहित्यिक चेतना ने उनके नाटकों का स्वरूप बहुत कुछ बदल दिया। यद्यपि उन्होंने अपने कथानक पौराणिक और ऐतिहासिक हिन्दू-काल से लिये, जिसके द्वारा उनकी सांस्कृतिक रुचि का परिचय मिलता है; किन्तु नाट्य-कला को उन्होंने कुछ नूतन अवश्य बनाया—चरित्रों को नवीन मनोवैज्ञानिक प्रकाश में रखकर। उन्होंने भारत के प्राचीन आदर्श और वर्तमान जीवन की सहानुभूतिशील वास्तविकता का मिश्रण किया। वे कवि थे, स्वभावतः उनके नाटकों

में गीतिकाव्य ने विशेष स्थान पाया। 'करुणालय' नामक गीतिनाट्य उनकी इसी भावात्मक रुचि का द्योतक था, मानो प्रत्यक्ष जीवन के चित्रपट पर वे परोक्ष मानव-कल्पनाओं को प्रधानता देते थे। यथार्थवाद को वे प्रचलित आदर्शवाद द्वारा नहीं बल्कि मनुष्य के उन काव्य-क्षणों से सार्थक करते थे, जहाँ मनुष्य का बिना किसी नैतिक दबाव के नैसर्गिक आत्मद्रवण होता है। उनके नाटकों से ज्ञात होता है कि कदाचित् उनका विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य में यह काव्य-वृत्ति वर्त्तमान है, सभी मनुष्यों में संगीत-प्रेम इसी कोमल स्वाभाविकता का सूचक है। 'प्रसाद' का नाटकीय मनोविज्ञान मनुष्य के इसी काव्य-पक्ष (कवि-हृदय) को जगाता है।

'प्रसाद' ने जिस प्रकार छायावाद द्वारा हिन्दी-कविता का स्टैन्डर्ड ऊपर उठाया, उसी प्रकार नाटकीय गीतों का भी। उनके प्रारम्भिक नाटकों में गीतिकाव्य का कोई नवीन एवं गंभीर दर्शन नहीं मिलता। कारण, उस समय तक एक अन्तर्मुख सुरुचि रखते हुए भी वे अपना कलासन्धान नहीं कर सके थे। उनके सामने पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का रंगमंच था; किन्तु 'प्रसाद' जी सर्वथा उसी ओर नहीं बढ़े। आगे उन्होंने अपने नाटकों में संगीत को साहित्यिक महत्त्व भी यथासंभव प्रदान किया। उसे गायन-मात्र न रखकर काव्य बनाया। गीतिकाव्य ने अपना विकास-मार्ग 'प्रसाद' के नाटकों में बनाया और

संगीत ने पारसी नाटकों में। 'प्रसाद' के गीतों में साहित्यिक सुरुचि है, पारसी नाटकों में मुग़ल-दरबार की संगीत-रुचि। इसी पार्थक्य की भूमि में हिन्दी के नाटक और संगीत दो भिन्न दिशाओं में चले।

इधर 'प्रसाद' का नाटकीय अनुष्ठान नये नवयुवकों द्वारा अँगरेज़ी नाट्यकला को आत्मसात् करने में जागरूक हुआ; उधर पारसी रंगमंच सवाक् चित्रपटों में विलीन हो गया। जनता में बंगाल की भाँति कलात्मक चेतना न होने के कारण, साहित्यिक नाटक स्टेज पर शोभित नहीं हो सके और पारसी नाटकों में साहित्यिक चेतना न होने के कारण वे कला में स्थान नहीं बना सके। इस प्रकार एक नाट्यदल केवल साहित्यिकों को आहार देता रहा, दूसरा जनता को। जनता और साहित्यिकों के बीच के इस पार्थक्य को दूर करना आवश्यक था; क्योंकि इसके बिना साहित्यिक नाटकों के लिए कभी सार्वजनिक रंगमंच बनाने का अवसर आएगा ही नहीं। इस दिशा में श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने अपने नाटकों द्वारा एक सत्प्रयत्न उपस्थित किया। स्वयं अभिनेता होने के कारण उन्हें रंगमंच का बोध है। उन्होंने नाटकों में साहित्यिक छटा को सरल बनाकर रंगमंच की आवश्यकताओं को एक कला-सुषमा दी। 'प्रसाद'जी की दुर्बोधता को गोविन्दवल्लभ पन्त ने अपने नाटकों में निखार दिया। उनके नाटक साहित्यिक नाट्यकला और पारसी नाट्यकला के मध्यवर्ती हैं।

'प्रसाद' के नाटकों में गीतिकाव्य, जो कि छायावाद का प्रायः मुक्तक काव्य ही बन गया था, उसे गोविन्दवल्लभ के नाटकों और सुमित्रानन्दन की 'ज्योत्स्ना' तथा उससे पूर्व स्फुटप्रकाशित उनके कुछ गीतों से संगीत-साधना भी मिली।

[४]

अब तक छायावाद ने चार परिणति प्राप्त की है—(१) 'प्रसाद' की काव्य-प्रतिभा (छायावाद की आरम्भिका), (२) माखनलाल, पन्त, 'निराला', महादेवी, रामकुमार, 'नवीन' इत्यादि का मुक्तक विकास, (३) गीतिकाव्य, (४) पन्त का 'युगान्त'-चिन्तन।

सम्प्रति गीतिकाव्य की दिशा में दो स्कूल प्रचलित हुए—(१) महादेवी-स्कूल, (२) 'निराला'-स्कूल।

इनके अतिरिक्त, सर्वश्री रामकुमार वर्मा और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने भी गीतिरचना की। 'कुमार' और 'नवीन' के गीत, भावों में अपना कवि-व्यक्तित्व रखते हुए, महादेवीस्कूल के साथ हैं। 'निराला'-स्कूल में 'निराला'जी ही गण्यमान्य हैं।

नई हिन्दी कविता के प्रवाह से पूर्व, द्विवेदी-युग के कवियों में भी गीतिकाव्य का स्रोत बहता रहा। उस युग के कवियों में गुप्तजी के 'साकेत', 'यशोधरा', 'झनकार' और 'स्वदेश-संगीत' के गीत; ठाकुर साहब की सद्यःरचना 'कादम्बिनी' के कतिपय

गीत तथा शिवाधार पाण्डेय और मुकुटधर पाण्डेय के मुक्तकगीत सहृदय-संवेद्य हैं। मध्ययुग में गीतिकाव्य का जो स्रोत सामाजिक परिस्थितिवश अवरुद्ध हो गया था, आधुनिक युग में वह नवीन चेतना द्वारा पुनर्भूत हुआ। भक्ति ने पहले भगवान् को गीताञ्जलि दी थी, अब प्रेम ने मनुष्य को भी भावाञ्जलि दी। गीतों की परिधि विस्तीर्ण हो गई। द्विवेदी-युग में गीतिकाव्य का जो स्रोत प्रच्छन्न था, वह छायावाद-युग में विशेष रूप से प्रत्यक्ष हुआ। छायावाद के विकास-काल में ही गुप्तजी और ठाकुर साहब के गीत भावों की उस अन्तर्वीणा में भी झंकृत हुए जो नवीन कविता के कला-बोध से अनुप्राणित हैं

हाँ, तो नाटकों द्वारा नवीन हिन्दी-गीतकाव्य के रचयिता 'प्रसाद'जी हैं किन्तु उसके संगीत-स्रष्टा पन्त, निराला और महादेवी। गुप्तजी की 'यशोधरा', ठाकुर साहब की 'कादम्बिनी' तथा प्रसादजी की 'लहर' और 'कामायनी' के गीतों द्वारा द्विवेदी-युग के गीतिकाव्य का, गीतिकाव्य के नवप्रस्रवित प्रवाह के साथ सम्मिलन हुआ।

गुप्तजी, प्रसादजी, महादेवीजी, रामकुमारजी, नवीनजी के गीतिकाव्य, संगीत की प्रचलित देसी प्रणाली पर अवस्थित हैं। सूर, तुलसी और मीरा की गीतशैली से उनमें विशेष विभेद नहीं। किन्तु पन्त और निराला ने प्रचलित प्रणाली से भिन्न सङ्गीत-कला भी उपस्थित की और उन्होंने हिन्दी-गीतिकाव्य में सङ्गीत

के नवीन प्रयत्न भी उसी प्रकार उपस्थित किये, जिस प्रकार छायावाद की कविता को द्विवेदी-युग की प्रगति से पृथक्। बंगाल में टैगोर-स्कूल ने जिस प्रकार गीतिकाव्य में सङ्गीत के नवीन प्रयोग उपस्थित किये, उसी प्रकार हिन्दी-गीतिकाव्य में पन्त और निराला ने भी।

'ज्योत्स्ना' के नाट्यगीतों के बाद 'युगान्त' से (मूलतः 'गुञ्जन' से) पन्त की काव्यधारा बदल गई; वह प्रबन्ध-काव्य की सामूहिक चेतना की भूमि पर भी, छायावाद की ही कला में, मुक्तकरूप से अग्रसर हुई।

निदान, गीतिकाव्य के क्षेत्र में निराला और महादेवी के गीत ही धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए।

'निराला' के अधिकांश गीतों में उनकी कला, अभिव्यक्ति के लिए जितनी सचेष्ट है, उतनी अभिव्यक्त के प्रति तन्मय नहीं। उनका काव्य-पाण्डित्य उनके कवि को सहज नहीं रहने देता। जहाँ उनमें सहज स्वाभाविक तन्मयता है, वहाँ उनकी कला अपनी अनुभूति से मार्म्मिक भी हो गई है।

महादेवी के गीत अपनी सहज गतिशीलता, आत्मविस्मृत भाव-विदग्धता और संगीत में टेक के बराबर कहानी की-सी स्पन्दनशीलता के कारण सजीव हैं और उन्होंने ही हाल के नवयुवकों को गीतों की भाव-भाषा दी है।

सर्व श्री उदयशङ्कर भट्ट, रामशङ्कर शुक्ल 'हृदय', बच्चन, तारा पाण्डेय, नरेन्द्र, हरेन्द्र, देवनारायण, आरसी, केसरी, गङ्गा-प्रसाद पाण्डेय, शिवमङ्गल सिंह 'सुमन' और रामचन्द्र द्विवेदी 'प्रदीप' अच्छे सङ्गीत-कवि हैं। इनके अतिरिक्त भी पत्र-पत्रिकाओं में कभी कभी बड़ी सुंदर काव्यात्माओं का दर्शन हो जाता है।

[५]

गद्य और कविता में जितना अन्तर है, उतना ही कविता और सङ्गीत में। गद्य में ज्ञान को जितना प्रस्तार दिया जा सकता है, उतना कविता में नहीं। इसी लिए कविता ज्ञान को लेकर नहीं, भाव को लेकर चलती है। भाव—ज्ञान का आसव है, उसका रस-रूप है। इसी प्रकार गद्य से लेकर संगीत तक ज्ञान क्रमशः सूक्ष्म होता जाता है और संगीत में आकर वह सूक्ष्मतम ही नहीं, 'लय' हो जाता है। लय का अभिप्राय विलीन अथवा संगीत की भाषा में स्वर-मात्र। गद्य का गाढ़ापन काव्य में, काव्य का गाढ़ापन संगीत में तरलतम हो जाता है।

कविता में जब तक भावों का संगीत (रसात्मकता) नहीं रहता, तब तक वह पद्य रहती है; भाव-संगीत लेकर वह पद्य से कविता हो जाती है। और जब कविता में संगीत ही भाव-प्रधान हो जाता है, तब वह कविता गायन-मात्र रह जाती है। कविता में संगीत भाव का सहायक रहता है, संगीत में

भाव गीत का। गीतिकाव्य बनता है गायन (संगीत) और कविता (भाव) के योग से। कविता में भाव प्रधान होकर रसोद्रेक करता है; संगीत में स्वर प्रधान होकर। संगीत का रसोद्रेक विशेष क्षणों का विशेष प्रभाव है। उन क्षणों को चिरञ्जीव कर देने या स्थायी बना देने के लिए गीत के साथ काव्य का भावात्मक सहयोग अपेक्षित रहता है।

गीतिकाव्य में स्वर और भाव का यही सहयोग संगठित हो जाता है, संगीत और कविता का एकाकीपन इसमें पूर्णता प्राप्त करता है। गीतिकाव्य में संगीत, काव्य का अनुवर्ती होकर भी अधिक शक्तिशाली हो जाता है, मानो अमात्य होकर सम्राट् से अधिक क्षमताशाली। यदि केवल गायन ही अभीष्ट हो तो निरे स-र-ग-म के सस्वर आलाप से ही जादू बिखर सकता है। किन्तु जब हम स-र-ग-म को सार्थक करते हैं तब मानो अनिवार्य्यत: संगीत के साथ काव्य को सम्बद्ध करते हैं। गीतिकाव्य संगीत की सार्थकता की चरम सीमा है।

हमारे यहाँ गीतिकाव्य एक विशेष लक्ष्य के लिए प्रस्रवित है। जब वेदान्त के गहन सूत्र अपनी जटिलता के कारण मनीषियों के ही प्रीतिभोज रह गये, तब ब्रह्मानन्द-आस्वाद को संसार तक भी पहुँचाने के लिए कथा-प्रवचन का प्रवर्त्तन हुआ। कथा-प्रवचन सरल-सुबोध होते हुए भी उपदेशमय थे। मानव-मन की कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि वह जीवन के तत्त्वों को जितना

स्वतःस्फूर्त्त होकर हृदयंगम करता है, उतना उपदेश या आदेश से नहीं। उपदेश या आदेश के प्रति उसके मन में श्रद्धा हो सकती है किन्तु उसकी ममता अपने रागात्मक अनुभवों से उपलब्ध रस में अधिक रहती है। इसीलिए कहानी की अपेक्षा कविता, प्रवचन की अपेक्षा संकीर्त्तन, ज्ञान की अपेक्षा गान सरसक्षम होकर उसके मन पर अधिक प्रभाव डालते हैं। जिस ब्रह्मानन्द-आस्वाद के लिए प्रवचन-प्रवर्त्तन हुआ था, उसी के लिए संकीर्त्तन का भी स्रोत बहा। संकीर्त्तन में गीतिकाव्य सचमुच ब्रह्मानन्द-सहोदर बन गया।

[६]

रवि बाबू ने अपनी एक यात्रा-कथा में लिखा है—'अँगरेजी गान जन-समूह में गाने योग्य है, और हम लोगों का गान निर्जन एकान्त में।' गीतिकाव्य में भी मानव-जीवन का यही एकान्त-क्षण रहता है। संकीर्त्तन में जब समवेत कण्ठ से एक गान गुञ्जरित होता है, तब ऐसा लगता है मानो अनेक एकान्तों के मौन ने एक स्वर में अपने को निवेदित कर दिया है।

गीतिकाव्य मनुष्य के सबजेक्टिव को जगाता है। 'विजन! तुम्हारा आज बजे इकतारा'—कवि जब अपने इस विजन को झंकृत करता है, तब वह गीतिकाव्य की स्वर-लहरियों में समीर की तरह तैरने लगता है। छायावाद की मुक्तक कविताएँ भी एकान्त के इसी तन्मय स्वर से प्राणान्वित हैं।

गीतिकाव्य का क्षेत्र यद्यपि संगीतात्मक कविता तक ही सीमित नहीं क्योंकि जहाँ भाव है वहाँ स्वतः संगीत है, किन्तु 'गीति-काव्य' अपने स्वतन्त्र अर्थ में काव्य-कला और संगीत-कला का संयोजक है। इसी लिए वैष्णव कवियों की पदावलियों को तो हम गीतिकाव्य कहते हैं और शृंगारिक कवियों के कवित्त-सवैयों को मुक्तक-काव्य मात्र। अँगरेजी में जिसे लीरिक कविता कहते हैं, निःसन्देह प्रथम-प्रथम वह किसी वाद्य-यन्त्र के स्वर में उद्‌गत हुई होगी और जिस रस का संचार उस वाद्यगान से हुआ होगा उसी रस-संचार के कारण सभी सबजेक्टिव कविताएँ लीरिकल हो गईं। इस प्रकार लीरिक कविता भावों के एक विशेष व्यक्तित्व को सूचित करती है। गेय-गीत (song) उस व्यक्तित्व को एक विधि-विहित संगीत भी प्रदान करता है। गीतिकाव्य में गेय-गीत उसी प्रकार अन्तर्भुक्त हो जाता है, जिस प्रकार प्रबन्ध-काव्य में गीतिकाव्य का भी अन्तर्हित होना सम्भाव्य है।

हमारे यहाँ गीतिकाव्य गेय-गीतों में ही प्रकट हुआ था और उसे 'पद' संज्ञा प्राप्त हुई थी। किन्तु अपने नवीन विस्तार में गीतिकाव्य के अन्तर्गत काव्यमय और संगीतमय दोनों ही प्रकार के काव्य आ जाते हैं। इस प्रकार शृंगारिकों और छायावादियों की मुक्तक कविताएँ भी इसमें स्थान पा जाती हैं। हाँ, गीतिकाव्य के स्वरूप-परिचय के लिए हमें यह ध्यान रखना होगा कि उसका भाव-क्षेत्र प्रबन्ध-काव्य से भिन्न है।

लीरिक कविता के वजन पर हमारे यहाँ भी एक शब्द निर्मित है—'वेणु-काव्य'। यह शब्द संस्कृति का सूचक है, क्योंकि जिस नटवर ने वेणु बजाया था, सर्वप्रथम उसी के आराधकों ने हिन्दी-गीतिकाव्य को जन्म दिया।

जैसा कि रवि बाबू ने कहा है—'अँगरेज़ी गान जन-समूह के गाने योग्य है।' कारण, वहाँ जीवन के जिस रंग-मंच पर गान गाया जाता है, उस रंग-मंच का दृश्यपट है दैनिक समाज। हमारे यहाँ उसका दृश्यपट है अनादि प्रकृति। तारागणों के प्रकाश से प्रकाशित रात्रि में और सूर्य्योज्ज्वल प्रभात में हमारे राग गाये जाते हैं।

प्राचीन आर्य्य-सभ्यता की एक धारा भारत में, दूसरी धारा योरप में बही है। भारत में आर्य-सभ्यता अपने मौलिक (आध्यात्मिक) रूप में है, योरप में परवर्ती (भौतिक) रूप में। दोनों के साहित्य और समाज में भी सभ्यता का यही पार्थक्य है। रविबाबू के शब्दों में—'यूरोपियनों के आधिभौतिक व्यवहार से उनका संगीत प्रायः एकमेक हो गया है। उनके नाना प्रकार के जीवन-व्यवहारों के समान उनके गायन-सम्बन्धी विषय भी नाना प्रकार के हैं, परन्तु हमारे यहाँ यह बात नहीं है। यदि हम चाहे जिस विषय के गान बनाकर अपनी राग-रागिनियों में गाने लग जायँ, तो रागों का प्रयोजन ही नष्ट हो जायगा और सङ्गीत की दशा हास्यजनक हो जायगी। इसका

कारण यह है कि हमारी राग-रागिनियाँ व्यवहारातीत हैं। नित्य नैमित्तिक व्यवहार उन्हें सार-हीन मालूम होते हैं। इसी लिए वे कारुण्य अथवा विरक्ति जैसी उदात्त भावनाओं को जन्म देती हैं। उनका कार्य आत्मा के अव्यक्त, अज्ञेय और दुर्भेद्य रहस्य का चित्र तैयार करना है।' इसके प्रतिकूल 'जब-जब यूरोपियन गायन से मनोवृत्तियाँ चंचल हो उठती थीं, तब-तब मैं मन ही मन कहने लगता था, यह सङ्गीत अद्भुत-रस-प्रचुर है, यह जीवन की क्षणभंगुरता को गायन में जमा रहा है!'

भारतीय गीतिकाव्य यदि आज भी रहस्योन्मुख (रहस्यवादी) है तो इसका कारण उसकी मौलिक संस्कृति है। अन्ततः परवर्ती सभ्यता ने भी अपने साम्राज्य-विस्तार के फलस्वरूप इस देश के सामाजिक जीवन में स्थान बनाया, मानो योरप पुनः अपनी आदि भूमि में आ बसा। यहीं से वह गया था और यहीं विदेशी होकर आया! भूलते-भटकते वह गया था, भूलते-भटकते ही यहाँ आया। इतने दिनों के साहचर्य्य में भारत ने उस प्रत्यागत को भी अपनाया; साहित्य, सङ्गीत और समाज ने उसके आदान को भी स्वीकार किया।

——

कवि का आत्मजगत्

[१]

कविता—इस शब्द का नाम मैंने पहले-पहल कदाचित् सन् १८ में सुना था। तब, देहाती मदरसे के तीसरे या चौथे दर्जे में पढ़ता था। बालक था। ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य के मन के भीतर भी कोई एक स्प्रिंग होती है, वह उसे छुटपन से ही घड़ी की सूई की तरह उस अभीष्ट की ओर उन्मुख रखती है जिस संसार में वह जन्मजात संस्कारों से जाने को होता है। नहीं तो देहात के उस ठेठ वातावरण में जहाँ कोई साहित्य-समाज न था, कोई कला-रसिक न था, कोई पथ-प्रदर्शक न था, एकाएक कविता की ओर मेरा झुकाव हो जाना और किस तरह सम्भव था।

हाँ तो, कविता-शब्द का नाम मैंने पहले-पहल अपने उसी देहाती मदरसे में ही पढ़ा-सुना। वह देहाती मदरसा अब भी उसी तरह चल रहा है, उसके पार्श्व में शोभित वह पुराना वृक्ष आज भी विद्यमान है, जिसकी शाखाओं को पकड़कर अवकाश के समय हम इस तरह झूला करते थे, मानो हमने पिता की ही बाँह गह ली हो। शिशुगण अब भी उसके साथ खेलते होंगे, लेकिन उसे शायद वह याद न होगा कि एक दिन इन्हीं-जैसा

एक ओर बालक भी उसके अपार्थिव आकाश में कविता के हिंडोले में अज्ञात भाव से झूल गया है।

तो मेरे उस शैशव में हिन्दी-कविता कहाँ थी? तब छायावाद तो बहुत दूर की कल्पना था, मैंने ब्रजभाषा और खड़ीबोली का नाम भी न सुना था। मेरे लिए तो बस पद्य, पद्य थे; चाहे ब्रजभाषा में रहे हों, चाहे खड़ीबोली में। गद्य और पद्य का कलात्मक अन्तर क्या है, तब मैं यह नहीं जानता था। कोई बतलानेवाला भी तो न था। बातचीत की तरह सपाटे के साथ, जिस मैटर को हम शिशुवृन्द सीधे पढ़ जाते, उसे समझते थे गद्य; और जिसे पढ़ने में ज़बान को इन्टरवल देना पड़ता, उसे समझते थे पद्य। अपनी स्कूल-बुक में एक ओर मैं पं० प्रतापनारायण मिश्र की पंक्तियाँ गुनगुनाता था, दूसरी ओर बाबू मैथिलीशरण गुप्त की। पं० प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु-युग के एक प्रतीक थे तो बाबू मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी-युग के अन्यतम प्रतीक। इन दोनों युगों के बीच पं० श्रीधर पाठक अपनी ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ीबोली-द्वारा एक कड़ी बन गये थे।

बचपन में पढ़ी हुई कविताओं-द्वारा मैं जो अतीत का यह चित्र देख रहा हूँ उसमें एक और निर्देश मिलता है, अर्थात् सन् १८ तक आज की खड़ीबोली की रूप-रेखा बन चली थी, साथ ही उन कलाकारों का भी उदय हो रहा था जो

खड़ीबोली की रूप-रेखा को अपने कला-स्पर्श से बंकिम छटा देने की साधना कर रहे थे। मैंने अपने उसी स्कूल-बुक में परिहास-रसिक स्व० पं० बदरीनाथ भट्ट की ये पंक्तियाँ भी पढ़ी थीं—

अन्त्यानुप्रास-हीन अथवा अतुकान्त कविता—

बाजीगर ने लिये कोयले आठ-दस
उन्हें पीसकर घोला एक गिलास में;
सुजनसिंह थे वहाँ तमाशा देखते।

आज ये पंक्तियाँ मुझे पूरी नहीं याद रही हैं, किन्तु इनमें एक पंक्ति आज भी ध्यान खींचती है—'अन्त्यानुप्रास-हीन अथवा अतुकान्त कविता'। जान पड़ता है कि जिस समय यह कविता (!) पढ़ी थी, उस समय के पूर्व, खड़ीबोली में अतुकान्त कविता का भी श्रीगणेश हो गया था। अर्थात्, खड़ीबोली खड़ी हो गई थी और वह अपना अंग-सञ्चालन करने जा रही थी; कला की मुरकियों में उसने अपनी पहली अंगभंगी अतुकान्त कविता से की। कहा जाता है कि अतुकान्त के उद्भावक 'प्रसाद' जी थे। किन्तु 'प्रसाद' के पहिले भी अतुकान्त-कविता संस्कृत छन्दों-द्वारा की गई है। प्रसाद की नवीनता यह कि उन्होंने अतुकान्त में मात्रिक छन्दों का उपयोग किया। पन्त ने भी 'ग्रन्थि' में मात्रिक छन्द को ही अपनाया। इसके बाद गुप्त जी और 'निराला' जी ने अतुकान्त को विशेष उत्कर्ष दिया। गुप्तजी ने घनाक्षरी छन्द का एक टुकड़ा लेकर मिताक्षरी नाम से 'मेघनाद-वध' में

प्रयोग किया। निरालाजी ने भी कुछ घनाक्षरी के ही प्रवाह पर अपने अतुकान्त मुक्तछन्द की रचना की, जिसमें छन्द का नियम न होते हुए भी वाक्य-प्रवाह से ही छन्द का निर्देश मिलता है। आगे चलकर सियारामशरणजी और प्रसादजी ने इसी वाक्य-प्रवाह पूर्ण अतुकान्त को अपनाया। प्रसादजी ने अपने 'लहर' में 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'रूप की छाया' शीर्षक कविताओं में पूर्णतः 'निराला'-शैली का अनुसरण किया, किन्तु सियारामजी ने उससे कुछ भिन्न होकर।

अतुकान्त के बाद खड़ीबोली की कविता ने अपने विकास-क्रम से, पद-संगीत, शब्द-सौन्दर्य्य और भाव-व्यञ्जना में उन्नति की। इस उन्नति तक पहुँचने में खड़ीबोली की कविता को न जाने कितना उपहास सहना पड़ा होगा।

एक दिन जैसे ब्रजभाषी खड़ीबोली को हँसते थे, उसी प्रकार आगे चलकर खड़ीबोली के पुराने हिमायती ही खड़ीबोली की नवीन मुद्राओं, कविता की नवीन कलाभिव्यक्तियों पर हँसने लगे। किन्तु खड़ीबोली अपनी काव्य-दिशा में सुदृढ़ आत्मनिष्ठा से आगे ही बढ़ती चली गई, निदान हमारी तरुण-पीढ़ी ने उसे छायावाद के रूप में पाकर उसका स्वागत किया।

[२]

इस समय छायावाद विवाद की उस मञ्जिल पर है जहाँ पर हमारी राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस। कांग्रेस से लिबरलों का भी

असन्तोष है, समाजवादियों का भी। एक दल अति प्रतिगामी है, दूसरा अति-प्रगतिशील। आज साहित्य में भी ये प्रतिगामी और प्रगतिशील शक्तियाँ छायावाद का मूल्य नहीं आँक पातीं।

कांग्रेस को लिबरलों ने ही जन्म दिया, ठीक उसी प्रकार जैसे खड़ीबोली को द्विवेदी-युग ने। कांग्रेस के भीतर स्वतन्त्रता की आकांक्षा उसी प्रकार जगी, जैसे हमारे काव्य में भावों और कला की। गांधी-युग की कांग्रेस ने देश को आत्मनिरीक्षण दिया, छायावाद ने खड़ीबोली की कविता को। हिन्दी कविता ने कांग्रेस के उद्देश्यों को भी अपनाया। उसने उसके राष्ट्रीय नारों का साथ दिया, चर्खे की गूँज में अपना भी कण्ठ मिलाया, कघे के ताने-बाने में अपने लिए भी एक राष्ट्रीय परिधान बुन लिया। इस तरह कांग्रेस के साथ हिन्दी-कविता जन-समाज के सम्पर्क में भी आ गई, उसमें हाड़-मांस का एक पीड़ित देश भी बोल उठा। कविता के भीतर जो स्वाभाविक सहृदयता हो सकती है, उसने इस प्रकार बाह्यजगत् के सुख-दुख को भी स्पर्श करने में कृपणता नहीं की। इस प्रकार छायावाद वस्तुजगत् में लिबरलों से आगे होकर भी समाजवादियों की अतिवास्तविकता के समीप भी नहीं। किसी भी पीड़न में संवेदना के लिए सन्नद्ध रहकर छायावाद गृहस्थों की भाँति मुख्यत: अपने आन्तरिक जगत् में ही मग्न है। हाँ, वस्तुजगत् के लिए वह सहयोगी हो सकता है, अधिनायक नहीं -

मनुष्य का एक अन्तर्जगत् भी है, जिसे आप अन्तर्लोक या सबजेक्टिव संसार कह सकते हैं। शहीद हो जानेवाले हाड़-मांस के शरीर के भीतर भी एक हृदय रोता-हँसता रहता है जो केवल जन-समाज से ही नहीं, बल्कि संपूर्ण सृष्टि से न जाने अपने मन का क्या-क्या उपादान ग्रहण करता है, न जाने किन-किन भावभङ्गियों में सृष्टि को अपने में और अपने को सृष्टि में क्या-क्या अभिव्यक्तियाँ देने को उत्कण्ठित रहता है। खादी के परिधान से तो बाह्यशरीर आच्छादित हो सकता है, किन्तु अन्तःशरीर (हृदय) न तो देशी कर्घे का वस्त्र ग्रहण कर पाता है न विलायती मिलों का, दोनों ही उसके लिए भारी हैं। आगरे का ताजमहल सुरक्षा के लिए किसी बड़े ग़िलाफ़ से ढाँका जा सकता है, किन्तु उसके उस सूक्ष्म वायुमण्डल को जिसमें हृदय की साँस उमड़-घुमड़ रही है, हम किस आच्छादन से वेष्टित कर सकते हैं? वह तो एक और ही संसार है जहाँ की चेतना का कलावरण ग्रहण करने में मनुष्य को अपने सीमित समाज से आगे जाकर विधाता की असीम सृष्टि का आभारी होना पड़ता है। कवि जब कहता है—

> रजनी ओढ़े जाती थी
>
> *झिलमिल तारों की जाली*

अथवा—

बसावें एक नया संसार
जहाँ सपने हों पहरेदार

तब उस संसार को कर्यों और मिलों में बाँध रखना सम्भव नहीं। उसे आपको कुछ कन्सेशन देना होगा।

कवि ने आपके समाज में जन्म लिया है, उसने आपसे भाषा पाई है, वह आपका आभारी होकर इतना कर सकता है कि आपकी भाषा में अपने जी की बात कुछ कुछ बुझा सके। फिर भी यदि आप नहीं बूझ पाते हैं तो यह कवि का दोष नहीं, बल्कि आपके ही भीतर कविता का अभाव है। कवि तो इतिवृत्त नहीं देता, जिसे कि आप साद्यन्त सुन-समझ कर अपने जीवन के रुटीन वर्क को चालू कर सकें। वह तो केवल संकेत देता है। आपने उसे जो भाषा दी है वह उसके लिए अपर्य्याप्त है। आप दृश्यजगत् के लिए अपनी भाषा को भले ही पूर्ण बना लें किन्तु अदृश्य जगत् के लिए वह सदैव अपूर्ण रहेगी। अपनी भाषा से आप विज्ञान को पूर्णता दे सकते हैं, किन्तु जिसकी पूर्णता की सीमा नहीं है, जो असीम और अनुभव-जन्य है, उस अव्यक्त को व्यक्त होने के लिए कभी भी पूर्ण भाषा नहीं प्राप्त हो सकती। उसे संकेतों से ही समझना होगा, उसके लिए स्वयं भी कवि होना पड़ेगा।

एक शिशु पृथ्वी पर आता है, वह सर्वथा नूतन अतिथि यहाँ आने से पहिले अपना भी एक संसार लेकर आता है, वह कुछ

कहना चाहता है—कह नहीं पाता, वह किलक कर, कलप कर रह जाता है। आप इतने सयाने होने पर भी उसके अभिप्राय को ग्रहण नहीं कर पाते, फिर भी उस पर न्योछावर हो-हो जाते हैं। आपका मुग्ध-मूक हृदय भीतर ही भीतर उसके अभिप्राय को ग्रहण करता है। वह अभिप्राय क्या है, आपकी भाषा उसे कह नहीं पाती, फिर भी आपकी निर्वाक् मूकता में एक रस बरस जाता है, आप बलि-बलि जाते हैं। वही शिशु धीरे-धीरे बड़ा होता है। आप कहते हैं—मेरा लल्ला अब सयाना हो गया! क्योंकि, वह आपकी भाषा में बोलने लगा है, आप उसकी बातें समझने लगे हैं। किन्तु आपका लल्ला अपना जो अज्ञात संसार छोड़ आया है, उपवन के फूलों की तरह न जाने कितने भावों का बलिदान चढ़ा आया है, उसके उस संसार से, उसके उस भाव-जगत् से आप तो अपरिचित ही रह गये, साथ ही वह भी रिक्त हो गया है। छायावाद का कवि उसी शिशु-सी मूकता और रिक्तता को आपकी भाषा में वाणी और रस देने का प्रयत्न करता है। वह आपकी दुनिया में आकर भी अपनी दुनिया को भूल न सका। कभी कभी वह सोलहों आना आपकी भाषा में ही आपके देश-प्रेम, आपके अछूतोद्धार, आपके खादी-प्रचार तथा आपके नाना राजनीतिक और सामाजिक असन्तोषों के स्वर में स्वर भी मिला देता है, तब आप उसकी इन मैटर-ऑफ़-फैक्ट बातों को समझ लेते हैं। किन्तु जब वह आपकी दुनिया

से जरा विश्राम लेकर अपने एकान्त में, अपने तन्मय क्षणों में, कुछ गाता है तब आप उसे समझने में अनुदार क्यों हो जाते हैं ? भूल क्यों जाते हैं कि उसकी अपनी भी व्यथा-कथा है; वह कोरा यन्त्र नहीं, बल्कि यन्त्रणा-विदग्ध एक प्राणी भी है। आह, उसके सबजेक्टिव संसार के सुख-दुख को कौन ग्रहण करेगा ? उसके घायल हृदय को कौन सहलायेगा ? मीरा ने तो आकुल-व्याकुल होकर कह दिया था—

दरद की मारी बन-बन डोलूँ
बैद मिला नहिं कोय ;
मीरा की तब पीर मिटैगी
बैद सँवलिया होय।

— —

प्रकृति का काव्यमय व्यक्तित्व

प्रभात में देखते हैं—पूरब से प्रकाश का एक गोला निकलता है, चिड़ियाँ चहचहा उठती हैं, कृषक हल जोतने लगते हैं। फिर? पश्चिम में वह गोला धीरे-धीरे डूब जाता है, अँधेरा हो जाता है, चिड़ियाँ बसेरों में लौट पड़ती हैं, कृषक बैलों को साथ लिये हलों को कन्धे पर रखे हुए अपनी-अपनी झोपड़ियों को चल देते हैं।

यदि किसी रचना में इतनी ही बात लिख दी जाय तो वह कविता नहीं, कोरी तुकबन्दी बन जाएगी। कविता और तुकबन्दी में अन्तर यह है कि हम संसार में जो कुछ देखते हैं, तुकबन्दी उसका वर्णन भूगोल की तरह कर देती है। इस तरह का वर्णन तो स्कूल के मास्टर साहब भी भली भाँति कर सकते हैं। तो क्या वे भी कवि कहलाएँगे? नहीं, कवि तो उसे कहते हैं जो कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को अपनी ही तरह सुखदुख-पूर्ण समझे, अपनी ही तरह उनमें भी हास और अश्रु देखे; अपनी ही तरह सृष्टि की प्रत्येक लीला में जीवन का अनुभव करे, क्योंकि सब में एक ही परमचेतन (परमात्मा) की ज्योति छिपी हुई है। वही परमचेतन इस सृष्टि का नियन्ता

है; यह सृष्टि ही उसकी कविता है। हमारे यहाँ इस परमचेतन के लिए कहा गया है—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः

अर्थात् वही मनीषी, व्यापक, स्वयंभू और कवि है।

हमारा कवि, संसार में उसी कविर्मनीषी का प्रतिनिधि है। इसी लिए वह जड़-चेतन में छिपी हुई उस एक ही परमचेतन की ज्योति को पहिचान कर उसके साथ अपनी आत्मा की ज्योति का सम्मिलन करा देता है। तब, उसे यह सारा संसार एक ही प्रकाश में चमकता हुआ दिखाई पड़ता है। कमल की पंखुड़ियों की तरह भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हुए भी, वह इस सम्पूर्ण विश्व को सच्चिदानन्द-पद्मरूप में एक ही परिपूर्ण शतदल की तरह खिला हुआ देखता है। वह जब प्रभात में बालारुण को उदय होते हुए देखता है तब उसे ऐसा जान पड़ता है, मानो वह भी उसी की तरह धीरे-धीरे उदित हो रहा है।

जैसे प्रभात में जग कर हम अपने अपने कर्म्म-पथ पर चल पड़ते हैं, उसी भाँति सूर्य्य भी सुनहले रथ पर बैठकर अपने कर्म्मक्षेत्र की ओर बढ़ा जा रहा है।

कवि को भूगोल और खगोल में कोई भिन्नता नहीं दिखाई पड़ती। दोनों ही स्थानों में वह एक ही जीवन-चक्र को घूमते हुए देखता है, उसे ऐसा जान पड़ता है कि एक ही सूत्रधार (परमात्मा) की उँगलियों के संकेत पर प्रकृति भिन्न-भिन्न पात्रों

द्वारा एक ही महानाटक खेल रही है। इसी दृष्टि से, कवि जब किसी उपवन में एक खिले हुए गुलाब को देखता है, तो वह साधारण लोगों की तरह केवल यह नहीं देखता कि वह एक फूल मात्र है, बल्कि, वह तो उस प्यारे फूल को भी हमारी-तुम्हारी तरह ही एक सजीव प्राणी समझता है। जैसे हम अपनी माँ की कोमल स्नेह-गोद में हँसते-खेलते हैं, वैसे ही वह भी प्रकृति की सरल गोद में हँसता-खेलता और लहराता है। उसका सैलानी साथी पवन, उसे दूर-दूर देशों की अनोखी-अनोखी बातें सुनाता है, जिन्हें सुनकर कभी तो वह विस्मित और स्तब्ध हो जाता है और कभी आनन्द से विह्वल होकर थिरकने लगता है।

तुम कहोगे—भला यह कैसे संभव है! हमारी जैसी वहाँ चेतना कहाँ?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हम लोग मुनियाँ (मुन्नी) के पास चलें। वह देखो, अपनी गुड़िया के साथ किस तरह हिलमिलकर खेल रही है, किस तरह घुलमिलकर हँस-बोल रही है।

रात में जब सब लोग सोने लगते हैं, तब मुनियाँ भी अपनी प्यारी गुड़िया को दूध-भात खिलाकर सुला देती है और अपने नन्हें-नन्हें हाथों से कोमल-कोमल थपकियाँ दे-देकर कहती है—छो जा, मेली लानी, छो जा!

आओ, हम मुनिया से पूछें तो सही—बहिन, तुम्हारी गुड़िया तो बोलती ही नहीं, फिर तुम कैसे उससे बातें करती हो ?

लो, वह तो हमारी जिज्ञासा सुनकर बड़े आश्चर्य्य से हमारी ओर देखने लगी। उसे तो विश्वास ही नहीं होता कि उसकी प्यारी गुड़िया उसी की तरह सजीव नहीं। जैसे वह अपनी माँ की मुनिया है, वैसे ही उसकी गुड़िया भी तो उसकी मुनिया है !

बात यह है कि मुनिया ने अपने प्राणों को गुड़िया में भी डाल दिया है, इसी लिए वह न बोलते हुए भी मुनिया से बातें करती है। मुनिया उस बातचीत की भाषा को समझती है, क्योंकि उसी ने तो उसमें प्राण डाला है। इसी तरह कवि भी, पुष्पों में, वृक्षों में, लहरों में, तारों में, सूर्य्य में, शशि में, सबमें अपने प्राणों को डाल देता है और वे सब के सब उसके लिए उसी की तरह सजीव हो उठते हैं। जैसे पारस लोहे को सोना कर देता है, वैसे ही कवि की सजीवता जड़ को भी चेतन कर देती है।

आखिर इस नई सृष्टि और नई भाषा का उद्देश्य ?—इसके उत्तर में मैं पूछता हूँ— भाई, जिस मुहल्ले में तुम रहते हो, वहाँ यदि तुम्हारे बहुत से गहरे साथी बन जायँ तो तुम्हें क्या ख़ुशी न होगी ? उन अभिन्न साथियों के बीच हँसते-खेलते, बात की

बात में दिन ऐसे बीतते जायँगे कि तुम प्रति दिन अपने जीवन को बहुत-बहुत प्यार करने लगोगे। तुम चाहोगे, अहा, एक-एक दिन हज़ार-हज़ार वर्षों-जैसे लम्बे हो जायँ। इसी लिए और इसी भाँति, कवि भी सम्पूर्ण सृष्टि के साथ मित्रता जोड़ लेना चाहता है—सब के साथ वह हँसता-बोलता है, सब के साथ वह रोता-गाता है।

बन्धु, जब तुम हँसते हो, तब तुम्हारा साथी भी हँसता है। जब तुम रोते हो तब तुम्हारा साथी भी रोने लगता है। तुम्हारे सब साथी तुम्हारी ही सजीवता के कारण तुम्हारे हँसने-रोने की प्रतिध्वनि देते हैं। यदि तुम निर्जीव होते तो उनके भीतर से प्रतिध्वनि नहीं निकलती। तुम सजीव प्राणी हो, इसी लिए जंगल का सुनसान सन्नाटा भी तुम्हारी बातों की प्रतिध्वनि देता है। इसी तरह, कवि भी सृष्टि की जिन-जिन जड़-चेतन वस्तुओं से अपनी मित्रता जोड़ता है, वे सब उसी की सजीवता से सुस्पन्दित होकर, उसके ही हृदय की प्रतिध्वनि सुनाते हैं एवं उसके ही-जैसे सहृदय बन जाते हैं।

इसी मित्रता के कारण कवि, प्रकृति की प्रत्येक दिशा में अपने ही जैसे जीवन की झलक देखता है। सृष्टि की मूक वस्तुओं को भी अपने ही जैसा हिलता-डुलता प्राणी समझता है। क्या यह कोई अच्छी बात नहीं है?

हाँ तो, कवि अखिल सृष्टि के साथ जितनी ही अधिक आत्मीयता जोड़ता है, उसकी कविता उतनी ही सुख-शान्ति-पूर्ण

एवं आध्यात्मिक बन जाती है। हम भरत-खंड के निवासी हैं, हमारे कुछ अपने कवित्वपूर्ण विश्वास हैं, उन्हीं विश्वासों के कारण हमने आसेतु-हिमाचल प्रकृति के अञ्चल में ही अपने तीर्थस्थल बनाये हैं। हमें वहाँ शीतलता मिलती है, शान्ति मिलती है, सान्त्वना मिलती है; यमुना हमें प्रीति-प्रदान करती है, गंगा हमें भक्ति दान करती है।

प्रकृति के मुक़ाबिले आज स्वार्थों को जो प्रधानता मिल गई है, और मनुष्य प्रकृति से विच्छिन्न होकर नगर-नगर में जो मिल और फैक्टरियाँ खोलता जा रहा है, इसका कारण है विज्ञान-वाद। विज्ञान को प्रकृति-विजयी होने का दावा है इसी लिए राष्ट्र-रक्षा के नाम पर वह जंगल-का-जंगल काट कर उन्हें लड़ाई का मैदान भी बना सकता है और मनुष्य के नाम पर मनुष्य के ही रक्त से पृथ्वी को सींचकर अन्तर्राष्ट्रीय शत्रुता का कँटीला झाड़ भी उगा सकता है। इस प्रकार तो प्रकृति ही नहीं, मनुष्य भी अपदार्थ होता जा रहा है, प्रधान हो गया है यन्त्रवाद। यहाँ तक कि मनुष्य भी यन्त्रों के बनने लगे हैं। कवि जब प्रकृति के साथ आत्मीयता जोड़ने लगता है, तब वह इसी यन्त्रवाद के प्रतिकूल मानो मानवी चेतना को अग्रसर करता है।

काव्य-जगत् में प्रकृति भी हमारी पारिवारिक है, हमारी वाटिका के खग-मृग, पुष्प-पवन और छाया-प्रकाश के निखिल रूप में। मनुष्य के जीवन में काव्य है, संगीत है, सौन्दर्य है।

प्रकृति में भी यह सब कुछ है, इसी लिए विश्वजीवन के साथ उसका ऐक्य है, पारिवारिक सौख्य है। कवि पन्त ने श्रमजीवी मानव को प्रकृति के सान्निध्य में जिस चित्र-चारुता से उपस्थित किया है, वह इस यन्त्रवादी जड़युग में मनुष्य और प्रकृति के स्नेह-सहयोग का सहज स्वभाविक निदर्शन है—

बाँसों का झुरमुट
सन्ध्या का झुटपुट,
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टी-वी-टी—टुट्-टुट्!

वे ढाल-ढाल कर उर अपने
हैं बरसा रहीं मधुर सपने
श्रम-जर्ज्जर विधुर चराचर पर
गा गीत स्नेह-वेदना-सने!

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी डगमग डग,
भारी है जीवन भारी पग!!

आः, गा-गा शत-शत सहृदय खग,
सन्ध्या बिखरा निज स्वर्ण सुभग,
औ' गन्ध-पवन भल मन्द व्यजन

भर रहे नया इनमें जीवन,
ढीली हैं जिनकी रग-रग !

'युगान्त'

यों ही अनेक प्रकार से—

यह लौकिक औ' प्राकृतिक कला
यह काव्य अलौकिक सदा चला
आ रहा,—सृष्टि के साथ पला !

इसे संसार का कोई भी रियलिज्म, कोई भी विज्ञान मिटा नहीं सकता, जब तक पृथ्वी पर कवि नामक प्राणी शेष है।

कविवर रवीन्द्रनाथ के शब्दों में काव्य पढ़ने के समय भी यदि हिसाब का खाता आगे खोल कर रखना पड़ता हो और वसूल क्या हुआ, इस बात का निश्चय उसी समय कर लिया जाता हो तो मैं यह स्वीकार करूँगा कि 'मेघदूत' से एक तथ्य पाकर हम आनन्दित हुए हैं। वह यह कि उस समय भी मनुष्य थे और उस समय भी आषाढ़ का प्रथम दिन नियमित समय पर आता था।

——